स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की स्थिति

लेखिका
श्रीमती चंद्रावती लखनपाल एम० ए०
('मदर-इंडिया का जवाब' की लेखिका)

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १।)] सं० १९९० वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

प्रारंभिक शब्द

हमारा समाज जो स्त्रियों के प्रश्नों के प्रति सर्वथा उपराम था, अब उन प्रश्नों पर बड़े ग़ौर से विचार करने लगा है। स्त्रियों के बंधनों को काट देने के लिये अब चारो तरफ़ से आवाज़ें आने लगी हैं। प्रत्येक पढ़ा-लिखा आदमी स्त्रियों की आज़ादी के हक़ में सोचने लगा है। ग़रीब घरों के लोग भी लड़कियों को पढ़ाने लगे हैं। स्त्रियों की हमारे समाज में अब तक जो स्थिति रही है, उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हो रही है, और यह प्रतिक्रिया ऐसे आँधी के वेग से हो रही है कि पुराने विचारों को जड़ से उखाड़ फेंके दे रही है।

इस प्रतिक्रिया के युग में पुराने विचारवालों का भी बिलकुल अभाव नहीं है। प्रतिक्रिया की प्रबलता को देखकर वे लोग घबरा उठे हैं। वे पुराने विचारों को और ज़्यादा ज़ोर से चिपट गए हैं। मौक़े-बे-मौक़े वे हरेक पुराने विचार की तरफ़दारी करते हैं। उनकी समझ में स्त्रियाँ इस लायक़ हैं ही नहीं कि उन पर एक मिनट के लिये भी विश्वास किया जा सके। उनके मत में स्त्रियों को जकड़कर रखना ही उन्हें ठीक रास्ते पर चलाने का एकमात्र साधन है। ग़नीमत यही है कि ऐसे लोगों की संख्या प्रतिदिन कम हो रही है।

पुरानी लकीर को पीटनेवालों के ख़िलाफ़ नए विचारों में उड़नेवाले इतना आगे बढ़ गए हैं कि वे हरेक पुरानी बात से, हरेक पुराने विचार से तंग आ गए जान पड़ते हैं। वे नई बात को, नए विचार को, नई लहर को खोजते-से फिरते हैं। वे हर एक पुराने विचार

का मज़ाक़ उड़ाते हैं। उनकी समझ में कोई बात सिर्फ़ इसलिये छोड़ देने लायक़ है क्योंकि वह पुरानी है। उन्हें समझ ही नहीं आता कि पातिव्रत्य भी कोई आदर्श हो सकता है ? वे खुले शब्दों में लिखते हैं स्त्रियाँ तितलियाँ हैं, और तितली के रूप में ही वे उन्हें देखना पसंद करते हैं। वे पुराने भारतीय आदर्शों से इतना थक गए हैं कि सीता और सावित्री का नाम सुनकर उन्हें उदासियाँ आने लगती हैं। प्रतिक्रिया के जोश में वे स्त्रियों-संबंधी किसी पुराने आदर्श को अपनाने के लिये तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है।

स्त्रियों के साथ अब तक जैसा बर्ताव होता रहा है, उसकी जब तक पूरी प्रतिक्रिया नहीं हो लेगी, तब तक शायद स्वाभाविक अवस्था भी नहीं आ सकती। हमें स्त्रियों को आज़ाद स्थिति में लाने के लिये ऊँची-से-ऊँची और ज़ोरदार-से-ज़ोरदार आवाज़ उठानी होगी। मैंने इस पुस्तक में प्रतिक्रिया की इस आवाज़ को उठाने में अपनी तरफ़ से कोई कसर नहीं रक्खी। मैं चाहती हूँ कि स्त्रियों के बंधन की एक-एक कड़ी मुझे अपनी आँखों के सामने टूटती हुई नज़र आए, परंतु इस प्रतिक्रिया में मैं यह नहीं भुला सकती कि यह प्रतिक्रिया है। जो विचारक प्रतिक्रिया के समय उस घटना के प्रतिक्रिया होने के विचार को भुला देता है, वह विचारक कहलाने के लायक़ नहीं। मैं समझती हूँ कि स्त्रियों के संबंध में जो पुराने विचार हममें घर कर गए हैं, उनमें प्रतिक्रिया हुए बग़ैर स्त्रियों की स्थिति सुधर नहीं सकती, परंतु मैं यह भी समझती हूँ कि यह प्रतिक्रिया कई तरफ़ उचित सीमाओं का उल्लंघन करती जा रही है। हम प्रतिक्रिया करते हुए अपनी पाश्चात्य बहनों का अनुकरण करने लगी हैं। हम समझती हैं कि पुराना जो कुछ था, नष्ट था, ख़राब था, उसमें कुछ था ही नहीं। यह बात ग़लत है। हम जिस आज़ादी को चाहती हैं, वह भारत

की स्त्रियों को किसी समय प्राप्त थी। अपनी चतुर्मुख उन्नति करने की उन्हें पूरी सुविधा थी। पुरुष तथा स्त्री में जिस प्रकार के इस समय भेद समझे जाते हैं, इस प्रकार के भेद उस समय नहीं थे। आज़ादी की दृष्टि से वैदिक युग की और बीसवीं सदी की स्त्री में रत्ती-भर फ़रक़ नहीं था। स्त्रियों की स्थिति भारतवर्ष में बहुत पीछे जाकर गिरी। अब हम स्त्रियों की स्थिति में वर्तमान गिरावट को ही भारत में स्त्री की असली स्थिति समझने लगी हैं, और हमें इसमें लेने लायक़ कुछ नहीं मिलता, पाश्चात्य आदर्श में ही सब कुछ दिखलाई देता है। परंतु क्या पश्चिम की बहनें जिस मार्ग से जा रही हैं, उससे वे संतुष्ट हैं? इसमें संदेह नहीं कि हमें आज़ादी की भावना उनसे सीखनी है। पश्चिम की बहनें परतंत्र थीं, और फिर स्वतंत्र हो गईं; हम भी परतंत्र हैं और हमें स्वतंत्र होना है; परतु स्वतंत्र होकर हमें आदर्श अपने ही रखने हैं—भारत के मध्यकालीन इतिहास के आदर्श नहीं, परंतु वैदिक युग के आदर्श; वे आदर्श, जो स्त्री को पुरुष के बराबर की स्थिति ही नहीं देते परंतु कई अंशों में पुरुष से भी ऊँची स्थिति देते हैं।

इन्हीं भावनाओं में यह पुस्तक लिखी गई है। पुराने तथा नए दोनो विचारों के लोग इसमें एक दूसरे से उल्टी बातें पाएँगे। उन्हें परस्पर विरोध इसलिये दिखाई देगा, क्योंकि उनकी दृष्टि में या पुराने विचार ही ठीक हो सकते हैं, या नए विचार ही। परंतु मेरा दृष्टिकोण यह नहीं है। मैं अपनी पश्चिमी बहनों की तरह आज़ादी तो चाहती हूँ, और बड़े ज़ोर से चाहती हूँ, परंतु मुझे पश्चिमी आदर्शों से प्रेम नहीं है। हमें आज़ादी की भावना उनसे सीखनी होगी, परंतु आदर्श अपने रखने होंगे। मैं चाहती हूँ कि सिर्फ़ पूर्व अथवा सिर्फ़ पश्चिम के पीछे भागने के बजाय दोनो में जो सत्य है, शिव है, सुंदर है, उसका

सम्मिश्रण करके स्त्रियों की स्थिति की कल्पना की जाय। इसी कल्पना का चित्र इन पृष्ठों में दिया गया है। जहाँ मैंने अपनी बहनों में स्वतंत्रता की भावना को जगाना चाहा है, वहाँ मैंने यह भी प्रयत्न किया है कि वे भारतीय नारी के आदर्श को न भुला दें। मैं समझती हूँ, इस समय जब कि समाज एकदम स्त्रियों के प्रश्नों की तरफ़ ध्यान देने लगा है, स्त्री-जाति के संबंध में पूर्व तथा पश्चिम की सुंदर-सुंदर भावनाओं को मिलाने की आवश्यकता है। इस प्रयास में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय मैं पाठक-पाठिकाओं पर छोड़ती हूँ।

चंद्रावती एम्० ए०

स्त्रियों की स्थिति

भारत में स्त्री-जाति का भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्

१. वैदिक काल

प्राचीन वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति किसी अंश में भी पुरुषों से कम न थी। वे पुरुषों के बराबर समझी जाती थीं। स्त्री पुरुष का आधा अंग मानी जाती थी। यह भाव 'अर्धांगिनी'-शब्द से भली भाँति व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार 'दंपति'-शब्द से भी स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि स्त्री और पुरुष दोनो समान रूप से घर के पति माने जाते थे। 'दम'-शब्द वेदों में 'घर' के लिये प्रयुक्त होता है। उसके वे दोनो मालिक समझे गए थे। वैदिक साहित्य में स्त्री तथा पुरुष की उत्पत्ति की कथा भी इस बात को पुष्ट करती है कि उन दोनो की स्थिति समानता की थी। शतपथ १४, ४. २, १, ५ में लिखा है—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः। सोऽहमस्मि इत्यग्रे व्याहरत् ततः अहं नामाभवत् स वै न रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।"

"सृष्टि के प्रारंभ में आत्मा ही था, उसी का नाम पुरुष था। वह इकला था, उसके अतिरिक्त दूसरा न था। उसने कहा, 'मैं हूँ' इसलिये उसका नाम 'अहम्' हो गया। अकेला रमण नहीं कर सकता था। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतना था, जैसे स्त्री-पुरुष मिले होते हैं। उसके दो टुकड़े कर दिए गए, और वे पति-पत्नी कहलाए।" इस कथा का यही अभिप्राय है कि स्त्री-पुरुष एकाकार थे, उस एकाकार अवस्था के दो टुकड़े हो गए। समानता के भाव को प्रकट करने के लिये इससे अच्छा दूसरा क्या अलंकार हो सकता है। यही वैदिक कथानक बाइबिल में भी पहुँचा प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ भी यही लिखा है कि सृष्टि के प्रारंभ में आदम को पैदा किया गया। वह अकेला था; इसलिये उसका जी नहीं लगता था। उसी के दो हिस्से किए गए, जिसमें से 'आदम' तथा 'हौवा' पैदा हो गए। वैदिक धर्म का यह अलंकार, जो दूसरे धर्मों में भी गया, वैदिक काल में स्त्री की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी। भारत-वासियों के सब आदर्श स्त्री-रूप में मिलते हैं। विद्या का आदर्श सरस्वती में, धन का लक्ष्मी में, पराक्रम का महामाया में, सौंदर्य का रति में, पवित्रता का गंगा में। यहाँ तक कि भारतवासियों ने परम शक्तिशाली भगवान् को भी जगज्जननी के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि

प्राचीन वैदिक युग में स्त्रियों को किन पवित्रतम, उच्च तथा सम्मान-पूर्ण भावों के साथ देखा जाता था। आज भी भारतवर्ष के अंदर जगह-जगह देवी के मंदिर बने हैं, और हज़ारों नर-नारी देवी की पूजा करने मंदिरों में जाते हैं।

वैदिक काल में स्त्री का परिवार में भी बहुत ऊँचा स्थान था। विवाह-संस्कार के समय कुल-वधू को संबोधन करके कहा जाता था—

"साम्राज्येधि श्वशुरेषु साम्राज्युत देवृषु ;
ननान्दु साम्राज्येधि साम्राज्युत श्वश्रूवाः।"

"हे नववधू ! तू जिस नवीन घर में जाने लगी है, वहाँ की तू सम्राज्ञी है। वह राज तेरा है। तेरे श्वशुर, देवर, ननद और सास तुझे सम्राज्ञी समझते हुए तेरे राज में आनंदित रहें।" वेद में स्त्री को घर की रानी कहा गया है। इसी से उस समय में परिवार के अंदर स्त्री की ऊँची स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक समय की स्त्रियों में पर्दे की प्रथा न थी। विवाह के उत्तरार्ध के समय जो मंत्र पढ़ा जाता था, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वेद में लिखा है—

"सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत"

"इस सौभाग्यशालिनी वधू को सब लोग आकर देखो।" इस वेद-मंत्र से यह स्पष्ट है कि उस समय पर्दा न था। संपूर्ण वैदिक साहित्य का अवलोकन करने पर भी कहीं पर्दे

का ज़िक्र नहीं मिलता। बृहदारण्यक में गार्गी की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि राजा जनक ने यह जानने के लिये कि उस समय का सबसे बड़ा विद्वान् कौन है, एक भारी सभा की। एक हज़ार गौओं को, जिनके सींग सोने से मढ़े हुए थे, एक जगह खड़ा कर दिया, और यह घोषणा कर दी गई कि जो सबसे अधिक विद्वान् हो, वह इन गौओं को हाँक ले जाय। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य को गौएँ हाँक ले जाने का आदेश दिया। उस समय गार्गी वाचक्नवी ने भरी सभा में खड़े होकर याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की परीक्षा करने के लिये बहुत-से प्रश्न किए। गार्गी के इस व्यवहार से जहाँ उसकी विद्वत्ता तथा साहस का प्रमाण मिलता है, वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि उस समय स्त्रियों में पर्दे का रिवाज न था। यदि होता, तो गार्गी का भरी सभा में उपस्थित होना तथा पुरुषों के बीच में खड़े होकर वाद-विवाद करना कभी संभव न होता। पर्दा तो भारतवर्ष में महाभारत-काल तक भी नहीं आया था। महाभारत में लिखा है कि दुर्योधन को श्रीकृष्ण से युद्ध न करने के लिये भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि ने बहुत समझाया। जब वे कृतकार्य न हुए, तो उसे समझाने के लिये माता गांधारी को राजसभा में बुलाया गया। इससे यही प्रकट होता है कि उस समय स्त्रियों के राजदरबार में आने तथा राज्य-कार्यों में परामर्श देने की प्रथा विद्यमान थी।

वैदिक काल में स्त्रियाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा ग्रहण करती

थीं। यजु० १४।४ में स्त्री को 'सोमपृष्ठा' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि वह वेद-मंत्रों के विषय में जिज्ञासा करती रहती है। प्राचीन इतिहास में सुलभा का नाम प्रसिद्ध है। सुलभा का संकल्प था कि जो कोई उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा, उसी से विवाह करेगी। सुलभा का यह निश्चय उसके अगाध पांडित्य का द्योतक है। स्त्रियों का मानसिक विकास चारो दिशाओं में हुआ था, इसका उदाहरण प्रत्यक्ष वेदों में ही मिलता है। वेदों के विषय में जिन्हें थोड़ा-सा भी ज्ञान है, वे जानते हैं कि वेद-मंत्रों के अर्थों को स्पष्ट करनेवालों को ऋषि कहा जाता है। भिन्न-भिन्न मंत्रों के अर्थ भिन्न-भिन्न ऋषियों ने खोले हैं। कई वेद-मंत्रों को खोलनेवाली स्त्री ऋषिकाएँ भी हुई हैं। लोपामुद्रा, श्रद्धा आदि स्त्री ऋषिकाएँ हैं, जिन्होंने वेदों के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था।

वैदिक काल में बाल-विवाह नहीं था, और कन्याओं को पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। वेद में लिखा है—"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" "पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर कन्या शिक्षा ग्रहण करती हुई विवाह करे।" इस वेद-मंत्र से ज्ञात होता है कि उस समय बालिकाओं के लिये शिक्षा ग्रहण करना उतना ही आवश्यक माना जाता था, जितना कि बालकों के लिये। ब्रह्मचर्याश्रम के सब नियमों को, जिनमें शिक्षा प्राप्त करना प्रधान था, पूरा करके ही कन्या को विवाह करने का अधिकार था। दुध-मुँही बच्चियों का विवाह रचना वैदिक काल की प्रथा न थी।

उस समय पूर्ण युवती होने पर ही कन्या का विवाह होता था। यह भाव निम्न-लिखित मंत्र से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वोविविद उत्तरः ;
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।"
(ऋ० १०, ८१, ४०)

इस मंत्र में लिखा है कि कन्या के चार पति होते हैं। पहला सोम, दूसरा गंधर्व, तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य। सोम से अभिप्राय वनस्पति से है। पहले कन्या की शारीरिक वृद्धि होनी चाहिए। इस कथन को वेद ने इस प्रकार कहा है कि उसका पहला पति सोम है। शारीरिक वृद्धि के बाद कन्या का मानसिक विकास होना चाहिए। इसी भाव को विशद करने के लिये वेद ने कहा है कि कन्या का दूसरा पति गंधर्व है। गंधर्व का काम ललित कलाओं का ज्ञान देना है। शारीरिक वृद्धि के अनंतर कन्या को सामाजिक व्यवहार, मिलना-जुलना, गाना-बजाना आदि आना चाहिए। इसके बाद कन्या का तीसरा पति अग्नि है। अग्नि का अभिप्राय स्पष्ट है। कन्या की शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि के बाद उसमें मनोभाव (Emotions) भी उत्पन्न हो जाने चाहिए। तब कन्या का विवाह मनुष्य से किया जाय। यह वेद का आदेश है। इस आदेश में कन्या की कोई खास आयु निश्चित नहीं की गई। जिस समय उसकी आयु परिपक्व अवस्था पर पहुँचे, उस समय उसका विवाह हो। गर्म देशों में कन्याएँ शीघ्र विवाह के योग्य हो जाती हैं। सर्द देशों में २० वर्ष की

आयु का विवाह भी बाल-विवाह समझा जाता है। इसलिये वेद ने आयु की कोई सीमा नहीं बाँधी। परंतु एक नियम का विधान कर दिया है। यह नियम जिस समाज में लागू होगा, उसमें बाल-विवाह की प्रथा नहीं रह सकती।

वैदिक काल में आत्मिक विकास की दृष्टि से भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ एक ही क्षेत्र में विचरण करती थीं। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद आता है। याज्ञवल्क्य अपनी संपत्ति तथा घर आदि छोड़कर स्वयं जंगल में जाकर अध्यात्म-विद्या में अपना समय देना चाहते हैं, वह मैत्रेयी से अपना विचार कहते हैं। मैत्रेयी कहती है, यदि संसार का सारा धन एकत्रित करके उसको दे दिया जाय, तब भी वह घर रहने को तैयार न होगी। उसका यह विचार जानकर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को अपने साथ ले जाने से पूर्व आध्यात्मिक उपदेश देते हैं। इस ऊँचे उपदेश को जिस सरलता के साथ मैत्रेयी हृदयंगम कर लेती है, उससे मैत्रेयी के मानसिक तथा आत्मिक विकास की ऊँची अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आध्यात्मिक ज्ञान रखने के साथ-ही-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री का पुरुष के बराबर ही स्थान था। कोई यज्ञ स्त्री के भाग के बिना पूरा न समझा जाता था। रामचंद्रजी के राज्याभिषेक पर, सीता के परित्याग के पश्चात्, जब राजसूय-यज्ञ होने लगा, तो सीताजी का यज्ञ में होना अत्यावश्यक समझा गया। उस समय सीताजी की स्वर्ण-मूर्ति को उनके स्थान पर रखकर यज्ञ की पूर्ति की गई

थी। वैदिक काल में राजा के अभिषेक के साथ उसकी रानी का भी राज्याभिषेक करने की प्रथा रही है। विवाह के समय माता-पिता दोनो मिलकर कन्या-दान करते थे। यह प्रथा आज तक अविकल रूप से चली आ रही है। हिंदू-धर्मशास्त्रों के अनुसार अब भी कन्या-दान के लिये माता का रहना आवश्यक होता है। अकेले पिता को कन्या-दान का अधिकार नहीं। वेदों का युग स्वतंत्रता का युग था। इसमें कोई किसी से न ऊँचा था न नीचा; स्त्री-पुरुष समान थे। स्त्रियों को चारो दिशाओं में उन्नति करने का पूरा अवसर मिलता था, इसलिये जिस क्षेत्र में भी स्त्रियाँ क़दम बढ़ाती थीं, उसी को वे अपनी अपूर्व प्रतिभा के तेज से आलोकित कर देती थीं। जिस वस्तु को भी वे हाथ लगाती थीं, उसी पर वे अपने विलक्षण व्यक्तित्व की गहरी छाप लगा देती थीं। उनके अंदर जहाँ विद्वत्ता, प्रतिभा, विचार-शक्ति तथा आत्म-बल था, वहाँ उनके सारे व्यवहार में एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की विद्यमानता का अनुभव होता है। जब तक स्वतंत्रता तथा समानता का वायुमंडल रहा, जब तक स्त्रियों की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर मिलता रहा, तभी तक स्त्रियाँ समाज तथा देश के साहित्य पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालती रहीं, तभी तक वे अपने आत्म-बल तथा सतीत्व के द्वारा देश के आदर्शों को ऊँचा उठाती रहीं, और तभी तक वे अपनी विचित्र संजीविनी शक्ति से जाति के अंदर जीवन-संचार करती रहीं।

२. मध्यकाल (पूर्वार्ध)

स्त्रियों की वैदिक समय में जो स्थिति थी, वह बहुत देर तक क़ायम न रक्खी जा सकी। प्राचीन वैदिक काल में स्त्री को जिन उच्च, पवित्रतम भावों से देखा जाता था, वे धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे। उस समय स्त्री 'देवी' थी, 'सम्राज्ञी' थी, पुरुष की योग्य सहचरी थी, पथ-प्रदर्शिका थी, जाति के भविष्य की निर्मात्री थी। पहले पुरुषों की दृष्टि में स्त्री यह सब कुछ थी, किंतु स्त्री-संबंधी यह उच्च आदर्श, स्त्री के संबंध में विचारों की यह ऊँची उड़ान, देर तक जारी न रह सकी। पुरुष की स्त्री के प्रति वह दृष्टि, जिसका परिणाम देश तथा समाज के लिये कल्याणकारी हुआ था, अब धीरे-धीरे विपरीत दिशा में बदलने लगी। समय के व्यतीत होते-होते ऊँची विचार-धारा और पवित्र आदर्श इतने बदले कि इन्होंने युग ही बदल दिय । भारतवर्ष अब धीरे-धीरे मध्य युग की ओर क़दम बढ़ा रहा था। नया युग था, नया दृष्टिकोण। स्त्री अब भी दिव्य गुणों से युक्त थी, किंतु जो कमज़ोरियाँ पहले स्त्री के आभूषण तथा गुण बने हुए थे, अब उसके अवगुण बन गए। उसकी स्वाभाविक तथा शारीरिक दुर्बलताएँ जो पहले उसकी सरलता, शोभा, लालित्य तथा सौंदर्य को बढ़ानेवाली थीं, अब उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी के रूप में सामने आने लगीं। स्त्री शरीर में पुरुष की अपेक्षा कमज़ोर थी, पुरुष बलवान् था; इसलिये पहले तो वह स्त्री की रक्षा करना अपना गौरव समझता था, परंतु पीछे उसकी शारीरिक

निर्बलता पुरुष को अपने ऊपर एक बोझ-सी प्रतीत होने लगी। कुछ दिनों बाद नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया। पुरुष स्त्री की रक्षा करता है, इसलिये उसके पुरस्कार-स्वरूप बदले में स्वयं ही उसने स्त्री के अधिकारों पर कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया। पुरुष को आर्थिक दृष्टि से भी स्त्री अपने ऊपर आश्रित दिखलाई देने लगी। पुरुष धन का उपार्जन करके लाता था, स्त्री घर में रहकर संतान का पालन तथा गृह-प्रबंध करती थी। दोनो के कार्य-क्षेत्र भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से कम महत्त्व के नहीं थे। किंतु पुरुष का स्त्री के प्रति पहले का दृष्टि-बिंदु, जैसे पहले कहा जा चुका है, अब बदल चुका था। अतः वही स्त्री, जो उसके लिये पहले 'सम्राज्ञी' थी, अब एक साधारण-सी आश्रिता पत्नी प्रतीत होने लगी। गृह-लक्ष्मी पाचिका के रूप में नज़र आने लगी, माता सेविका बन गई। जीवन और शक्तिप्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं की खान बन गई। स्त्री जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के द्वारा देश के साहित्य तथा समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतंत्र, पराधीन, निस्स-हाय, निर्बल बन चुकी थी। वैदिक युग का दृष्टिकोण, जो स्त्री के प्रति दिव्य कल्पनाओं तथा पुनीत भावनाओं से परि-वेष्टित था, अब पूर्णतया बदल चुका था। असाधारण साधारण बन चुका था, अलौकिक लौकिक। आध्यात्मिकता का माप ही नीचे गिर रहा था। अन्य ऊँचे आदर्शों का भी अधःपतन शुरू हो चुका था। इस अधःपतन के युग के प्रारंभ में ही स्त्री की

स्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। स्त्री को न अब वैसी स्वतंत्रता थी और न पहले-से अधिकार। पुरुष ने स्त्री को शारीरिक तथा धार्मिक दृष्टि से अपने ऊपर आश्रित पाकर उसके कई अधिकारों को छीन लिया था। स्त्री की कमज़ोरी पुरुष के उच्छृंखल होने का साधन बन गई थी। जब कोई जाति किसी आदर्श से एक बार गिर जाती है, तो वह गिरती ही जाती है। शक्ति का लोभ और अधिक बढ़ता गया, और यहाँ तक बढ़ा कि एक समय आया, जब कि स्त्री के ऊपर पुरुष का पूरा अधिकार हो गया। उसकी स्वतंत्र विचार-शक्ति, उसका व्यक्तित्व सब कुछ लोप हो गया। उसके लिये पुरुष ने नए आदर्श तथा नई मर्यादाओं का निर्माण किया; जिनसे स्त्री की सामाजिक तथा पारिवारिक दशा बहुत ख़राब हो गई। स्त्री की स्थिति मध्ययुग के पूर्वार्ध में जो कुछ रही, उसका प्रतिबिंब मनुस्मृति में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वहाँ लिखा है—

"अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ;
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याः आत्मनोवशे।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ;
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।"

"स्त्रियों को परतंत्र रखना चाहिए। पुरुषों का कर्तव्य है कि स्त्रियों को रात-दिन अपने वश में रक्खें। कुमार अवस्था में स्त्री की पिता रक्षा करता है, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र। स्त्री कभी स्वतंत्र रहने योग्य नहीं।"

नवयुग का प्रारंभ सब प्रकार से स्त्रियों की गिरावट का प्रारंभ था। स्त्रियों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। उनकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया। उन्हें पुरुषों के समान अधिकारों का उपभोग करने में अयोग्य समझा गया। उनके मानसिक तथा आत्मिक विकास के द्वारों पर ताला ठोक दिया गया। उनकी साहित्यिक उन्नति के मार्ग पर अनेकों प्रतिबंध लगा दिए गए। उपनयन के संस्कार से स्त्री को वंचित रखकर उसको सदियों के लिये अविद्या तथा अंधकार के गड्ढे में ढकेल दिया गया। जो स्त्रियाँ वैदिक काल में धर्म की प्राण थीं, उन्हीं स्त्रियों को श्रुति का पाठ तक करने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्"-जैसे वाक्यों की मनगढ़ंत रचना करके स्त्रियों को धर्म के क्षेत्र से निकाल फेंका गया। स्त्रियों के लिये संस्कारों की भी कोई आवश्यकता न समझी गई। मनुस्मृति ने घोषणा कर दी कि स्त्री के लिये विवाह ही एकमात्र संस्कार है। स्त्री को विवाह-संस्कार के अतिरिक्त और किसी संस्कार की जरूरत नहीं। "वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।" मनु के आठ प्रकार के विवाहों में से आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह भी हैं। इनके अनुसार, यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को चुराकर भी ले जाय, तब भी वह उसका पति-रूप में ग्रहण करे, चाहे वह स्त्री उस व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से ही क्यों न देखती हो। विवाहों के इस प्रकार के वर्गीकरण से यही प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री की स्थिति बड़ी अस्थिर तथा नीची बना दी गई थी।

बौद्ध-धर्म-पुस्तकों से भी उस समय की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-संघों में पहले तो स्त्रियों के लेने की मनाही थी। पीछे जब स्त्रियाँ भिक्षुणी होने लगीं, तो उनके लिये भिक्षुओं से कहीं अधिक कड़े नियमों का निर्माण किया गया। बौद्ध-पुस्तक चूलवग्ग में लिखा है कि बुद्ध की माता महा प्रजापति गौतमी ने तीन बार संघ में प्रवेश किए जाने की आज्ञा माँगी, किंतु तीनो बार उसे इनकार कर दिया गया। बहुत कुछ कहन-सुनने के उपरांत जब उसे प्रवेश होने की आज्ञा मिली, तब कड़े-कड़े आठ नियम स्त्रियों के प्रवेश के लिये बनाए गए। उनमें से एक यह भी था कि वृद्धा-से-वृद्धा १०० वर्ष की आयुवाली भिक्षुणी को भी उसी दिन के नवदीक्षित भिक्षु के लिये अभिवादन, प्रत्युत्थान आदि करना चाहिए। एक दूसरा नियम यह था कि भिक्षुणी किसी प्रकार भी भिक्षु को गाली न दे; और न कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु से बात करे। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्षु-जीवन स्वीकृत करने की अनुमति दे दी थी, किंतु वे इसको अच्छा न समझते थे। स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने का क्या परिणाम होगा, इस संबंध में उन्होंने स्वयं अपने शिष्य आनंद से इस प्रकार कहा था—"हे आनंद! यदि तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म-विषय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह धर्म चिरस्थायी होता; सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन क्योंकि, आनंद, स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अतः अब यह धर्म चिरस्थायी न होगा।

सद्धर्म ५०० वर्ष तक ही ठहरेगा।" आगे चलकर बुद्ध ने स्त्री भिक्षुणियों की रोग से उपमा दी है। इस सबसे यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि स्त्री की स्थिति इस समय काफ़ी गिर चुकी थी। इस समय के साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस समय तक वैदिक काल का एक पत्नी-व्रत का आदर्श लुप्त हो चुका था, उसके स्थान में बहुविवाह का खुल्लमखुल्ला प्रचार हो गया था। बहुविवाह के बहुत-से दृष्टांत बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। महावंश के अनुसार शुद्धोदन का विवाह माया और महामाया नाम की दो बहनों से हुआ था। राजा बिंब-सार की सोलह हजार रानियों का जातक-कथाओं में ज़िक्र आता है।

वैदिक युग में स्त्रियाँ खुले, स्वतंत्र, ऊँचे, पवित्र वायुमंडल में विचरती थीं। उस वायुमंडल में न तो ऊँच-नीच का भेद-भाव था और न संदेह तथा अविश्वास के नीचे विचार। किंतु मध्ययुग का वातावरण तंग, घुटा हुआ, विषमता के विष से भरा हुआ, अविश्वास-पूर्ण तथा संकुचित दृष्टिकोण से दूषित था। इस युग में जो सबसे बड़ा परिवर्तन स्त्री की स्थिति में हुआ, वह उसके कार्य-क्षेत्र का सीमित होना था। स्त्री की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सब प्रकार की उन्नति को रोककर उसकी स्थिति घर में परिमित कर दी गई। पति की सेवा करना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया। "पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिष्क्रिया।" "पति-सेवा ही

स्त्री के लिये गुरु के घर में रहकर शिक्षा प्राप्त करना है, और घर का काम-धंधा करना ही उसका यज्ञ या अग्निहोत्र है।"

किंतु काले मेघों के अंदर भी विद्युत् रेखा झिलमिला जाती है। मध्ययुग की गिरावट के बीच में भी हमें पुराने, उच्च, पवित्र आदर्शों की झलक कहीं-कहीं दिखलाई पड़ जाती है। तभी तो जिस मनुस्मृति में यह बतलाया गया है कि स्त्रियाँ विश्वास करने योग्य नहीं, स्वतंत्र रहने लायक़ नहीं, उसी मनुस्मृति में स्त्री को पूज्य-बुद्धि से, आदर वा सम्मान की दृष्टि से देखने का आदेश भी दिया गया है। मनु का कहना है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" "जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, उस स्थान में देवता वास करते हैं। मनु के इस वाक्य में उसी पुराने वैदिक आदर्श की झलक है, जिसे सामने रखकर एक समय भारतवर्ष स्त्री को 'देवी', 'सम्राज्ञी' के रूप में देखता था। मध्ययुग की गिरावट के समय में भी अर्ध-नारीश्वर का भाव पाया जाता है। शिव तथा पार्वती का जोड़ा स्त्री की स्थिति को लक्ष्य में रखकर ही बनाया गया था। परंतु इस समय की धार्मिक कल्पना में वैदिक विचार का प्रतिबिंब-मात्र ही शेष रह गया था। असली विचार लुप्त हो रहा था।

बौद्ध-काल की पुस्तकों को गंभीर दृष्टि से देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मध्ययुग के पूर्वार्ध में स्त्रियों की स्थिति यद्यपि वैदिक युग की अपेक्षा बहुत अधिक गिर चुकी थी, किंतु फिर भी इतनी गिरावट नहीं हुई थी, जो उस युग के

उत्तरार्ध में दिखाई देती है। इस समय तक यद्यपि स्त्रियों की विद्वत्ता, पांडित्य तथा स्वतंत्र विचार-शक्ति का पर्याप्त मात्रा में ह्रास हो चुका था, तथापि उनमें अलौकिक श्रद्धा, आत्मबल तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभी तक कुछ अंश बाक़ी बचा हुआ था। उसी श्रद्धा, बल और प्रभाव के द्वारा उस समय की स्त्रियाँ महात्मा बुद्ध-जैसे महान् व्यक्ति को बाधित कर सकी थीं कि उनको धर्म-संघों में प्रवेश होने की आज्ञा मिले। संघ में ५०० के लगभग स्त्रियों ने स्थान प्राप्त कर लिया था। और, जिस योग्यता के साथ उनमें से कुछ ने संघ के नियमों को पूरा किया, और संघ के उद्देश्यों का समस्त देश में प्रचार किया था, उससे उनकी शिक्षा तथा उच्च कोटि की योग्यता का पर्याप्त परिचय मिलता है। बौद्ध-ग्रंथों में अनेकों विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है, जो बुद्धिमती, सुशिक्षिता और प्रतिष्ठा-युक्त थीं। संयुक्तनिकाय में सुक्का नाम की एक महिला का नाम आता है, जिसकी वक्तृत्व शक्ति अपने समय में अद्वितीय समझी जाती थी। जिस समय वह राजगृह में व्याख्यान देने गई, तो संपूर्ण नगर-निवासियों को उसके व्याख्यान की सूचना इस प्रकार दी गई—"सुक्का अमृत-वर्षा कर रही है। जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे जावें, और अमृत-रस का पान करें।" श्रद्धा, खेमा, विशाखा आदि कई विदुषी महिलाओं का परिचय भी बौद्ध-ग्रंथों में मिलता है। मंडन मिश्र की स्त्री विद्याधरी का शंकराचार्य-जैसे विद्वान् के सम्मुख मध्यस्थ बनना और फिर उनसे शास्त्रार्थ करना भी सिद्ध

करता है कि मध्ययुग में स्त्रियों ने अपने सब अधिकारों को नहीं छोड़ा था।

बौद्ध-काल के अनंतर जब हम राजपूतों के समय की तरफ़ आते हैं, तब भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य यहाँ भी अभी पूर्णतया अंतर्हित नहीं हो गया था। अब भी प्रकाश की अंतिम रश्मियाँ राजपूताने की मरु-भूमि को अपने तेज से आलोकित कर रही थीं। यद्यपि सूर्यास्त समीप आ रहा था, तथापि इस गोधूलि की लालिमा में स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य अंतिम बार चमक उठा था। राजपूत-नारियों के देश-प्रेम, श्रद्धा-भक्ति तथा वीरता ने अस्ताचल की ओर जाते भाग्य-सूर्य में एक बार पुनः ज्योति का संचार किया था। रानी दुर्गावती का दृष्टांत किससे छिपा है। वह गढ़-प्रदेश की छोटी-सी रानी थीं। उसके पुत्र पर अकबर ने आक्रमण कर दिया। अपने छोटे-से शिशु की रक्षा करने के लिये रानी दुर्गावती ने अपनी सेना तैयार की, और स्वयं उसकी सेनापति बनी। यद्यपि वह युद्ध में परास्त हो गई, तथापि उसका भारत के सम्राट् के साथ युद्ध करने के लिये उद्यत हो जाना, उस गिरावट के समय में भी, स्त्री-जाति के अदम्य साहस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। जिस समय उसने देख लिया कि वह जीत न सकेगी, उस समय अपने को शत्रुओं के हाथ में छोड़ने की अपेक्षा उसका आत्मघात कर लेना सिद्ध करता है कि स्त्रियों में आत्म-समर्पण का भाव किस उच्च कोटि में वर्तमान था। इसी

प्रकार थानेसर-युद्ध में, चित्तौड़ की लड़ाई में जिस समय राजपूत-देवियों को क़िले के गिरने के समाचार मिले, उस समय किस आत्म-समर्पण के भाव से चार-पाँच सौ राजपूतनियाँ केसरिया पहनकर जलती चिताओं में जा बैठी थीं। परास्त होते हुए सिपाहियों को उत्साहित करना, भागते हुओं को फिर से वापस कर देश के लिये मर मिटने का उपदेश करना, पुत्र को, पति को भारत-माता के शुभ्र मस्तक पर कलंक का टीका न लगने देने का आदेश करना उस समय की वीरांगनाओं का सहज स्वभाव था। ये कथाएँ भारत के मेघाच्छन्न मध्यकाल में—उस काल में, जब स्त्री-जाति अपने ऊँचे पद से गिराई जा रही थी, जब उसके अधिकार चारों तरफ़ से छीने जा रहे थे—विद्युत् की रेखाओं का काम कर रही हैं। स्त्रियों की स्थिति गिर रही थी, शायद बहुत तेज़ी से गिर रही थी, किंतु वैदिक युग के बहुत अधिक नज़दीक होने के कारण उस समय की झलक इस युग में साफ़ तौर पर नज़र आ रही थी। सनातन वैदिक युग के उच्च, सुदृढ़ आदर्शों की इमारत क़रीब-क़रीब ढह चुकी थी, फिर भी उसका टूटा-फूटा ढाँचा, उसके खँडहर अब भी मौजूद थे।

मध्यकाल (उत्तरार्ध)

किंतु खँडहर आख़िर खँडहर ही थे। समय की कड़ी चपेट को वे कब तक ठुकरा सकते थे। शीघ्र ही वह समय आया, जब कि ऊँचे आदर्शों के बचे हुए भग्नावशेष भी धराशायी

हो गए। स्त्री-जाति का भाग्य-सितारा बढ़ते हुए अंधकार में छिप गया, स्त्री-जाति की अधोगति चरम सीमा तक पहुँच गई। उनके वर्तमान ने उनका भविष्य भी अंधकार में ढक लिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग मध्ययुग का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। मध्ययुग के उत्तरार्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से काला-युग कहना चाहिए। स्त्रियों पर समाज के अत्याचार और अन्याय ने इस युग को इतना काला कर दिया कि इस समय के इतिहास के पन्ने समाज की स्वेच्छाचारिता की कालिमा से सदा काले रहेंगे। इस समय भारतीय स्त्री को मनुष्य की कोटि में नहीं गिना जाता था। उसके सब अधिकार छीन लिए गए थे। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व सब प्रकार से नष्ट हो चुका था, समाज में तो उसकी स्थिति थी ही नहीं; परिवार में भी उसकी स्थिति गिर चुकी थी। एक स्त्री के होते पति अनेकों शादियाँ कर सकता था। स्त्रियाँ पैर की जूती के समान समझी जाती थीं। जिस प्रकार पैर की जूती पुरानी होने पर बदलने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार एक स्त्री के बूढ़ी हो जाने पर दूसरी को उसका स्थान मिल जाता था। कहाँ यह निकृष्ट कोटि की विचार-धारा और कहाँ वैदिक काल की वह उच्च श्रेणी की विचार-धारा, जिसमें स्त्री में 'देवी' तथा 'सम्राज्ञी' का स्वरूप देखा गया था। दोनो में ज़मीन-आसमान का अंतर था। इस समय घर के अंदर स्त्री की स्थिति पतन की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। स्त्री मनुष्य है, यह लोगों ने समझना

ही भुला दिया था। स्त्री पुरुष के लिये थी। वह उसकी भोग्य वस्तु थी; विनोद की सामग्री थी, पशु के तुल्य पराधीन थी। उस समय के विद्वान् तथा भावुक कवि तुलसीदास के निम्न-लिखित वाक्यों से उस काल के स्त्री-जाति के प्रति प्रचलित विचारों का दिग्दर्शन भली भाँति हो जाता है। तुलसीदासजी लिखते हैं—"ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी; ये सब ताड़न के अधिकारी।" शिक्षा तो स्त्रियों में लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि "स्त्री-शूद्रौ नाधीयताम्" का पूरे वेग के साथ प्रचार हो रहा था। बाल-विवाह पूरी तरह फैल चुका था। "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी; दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला" के नाद से भारत का कोना-कोना गूँज उठा था। छोटी-से-छोटी कन्या का विवाह कर देना माता-पिता के लिये सम्मान-रक्षा का प्रश्न हो गया था। दुधमुँही बच्चियों के विवाह प्रतिदिन रचे जाते थे। जब एक-दो वर्ष की बालिका वधू बनने लगी, तो आठ-दस वर्षवाली कन्या विधवाओं की भी कमी न रही। पहले जब भारतीय रमणी सुशिक्षिता थी, तब वह उच्च पातिव्रत्य के आदर्श को समझती थी। तब अनेकों उच्च कुल की स्त्रियाँ पति के मरने पर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को अच्छा समझती हुई अपने को जीवित ही जला देती थीं। पहले सती-प्रथा का आधार स्वेच्छा थी, पीछे बाधित होकर सती हो जाने की प्रथा चल पड़ी। अनेकों अबोध बालिकाओं को पति के साथ जीवित जलाया जाने लगा। एक ओर भारत

की दुधमुँही बच्चियों का विवाह-बंधन, पर्दे की बेड़ियाँ तथा अविद्या का अंधकार समाज को रसातल की ओर खींच रहे थे, दूसरी ओर विधवाओं के रुदन तथा चिता पर बैठी अबोध बालिकाओं की तीव्र चीत्कार से भारत का कोना-कोना व्याकुल हो उठा था। स्वेच्छाचारिता तथा अमानुषिकता की पराकाष्ठा हो गई थी। स्वार्थ, अन्याय तथा अत्याचार जब अंतिम सीमा पर पहुँच जाते हैं, तो इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ होती है। मानव-समाज की इन अमानुषिक प्रवृत्तियों के खिलाफ़ भी शीघ्र प्रतिक्रिया का प्रारंभ हो गया।

३. वर्तमान काल

इन्हीं अत्याचारों के प्रतिक्रिया-रूप में वर्तमान युग का प्रारंभ हुआ। सबसे प्रथम राजा राममोहनराय ने सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई। धर्म के नाम पर अबोध बाल-विधवाओं को जीवित जला देना इस समय की मानव-समाज की अनेकों क्रूरताओं में से एक थी। परंतु यही भारतीय समाज के ऊपर कलंक का टीका लगा देने को पर्याप्त थी। राजा राममोहनराय ने यह बात अनुभव की, और भारत-सरकार को सती-प्रथा के विरुद्ध क़ानून बनाने को विवश किया। राजा राममोहनराय ने जहाँ सती-प्रथा को रोका, वहाँ स्त्रियों के लिये शिक्षा का भी आयोजन किया। किंतु राजा राममोहनराय और ब्रह्मसमाज ने जिस शिक्षा का भारतीय महिलाओं के लिये प्रबंध किया था, वह पश्चिमी शिक्षा-पद्धति पर थी,

जो आदर्श उनके सामने रक्खे थे, वे पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे। उस समय की प्रचलित प्रगाढ़ अविद्या को दूर करने के लिये इनके अतिरिक्त ईसाई-मिशनरियों और सरकार द्वारा भी अनेकों प्रयत्न हुए। हर बड़े ज़िले में गर्ल्स-स्कूल खोले गए, परंतु इस सभी का उद्देश्य भारतीय स्त्री-समाज को भारतीय आदर्शों से दूर ले जाना था। कुछ समय के लिये तो इस आर्य-भूमि के पुनीत उच्च आदर्श पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक से आँखों से ओझल होते दिखाई पड़ने लगे थे। इस समय आर्य-समाज के संस्थापक ऋषि दयानंद ने लड़कियों के लिये प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर ही शिक्षा देने का विधान किया। ब्रह्मसमाज तथा सरकारी ईसाई-स्कूलों से शिक्षा का प्रचार तो बढ़ने लगा था, परंतु उनका रुख़ पश्चिमीय ढंग का हो गया था। ऋषि दयानंद ने इस प्रतिक्रिया को भारतीय भावना का रंग दे दिया। जो प्रतिक्रिया अब से पचास वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई, वह वैसे ही वेग से अब भी जारी है। अनेक समाज-सुधारकों ने देश के कोने-कोने से कुरीतियों को मिटाने की प्रतिज्ञा ले ली है। सनातन धर्म-सभाओं की तरफ़ से भी स्त्री-समाज की सुधारणा की आयोजनाएँ पेश की जा रही हैं। अभी हाल ही में बाल-विवाह-निवारक बिल बड़ी व्यवस्थापिका सभा में पास हुआ है। सर गंगाराम-जैसे उदार धनिकों के परिश्रम से अनेक स्थानों पर विधवा-सहायक आश्रम खुल गए हैं। देश या समाज के किसी कोने में भी यदि अन्याय

की हल्की-सी रेखा दिखलाई देती है, तो उसे मिटाने के लिये देश का हरएक उदार विचारक व्याकुल होता दिखाई देता है। अभी हाल में हरीसिंह गौड़ ने तलाक़-संबंधी बिल व्यवस्थापिका सभा में रक्खा था। स्त्रियों का दायभाग और पैत्रिक संपत्ति में अधिकार-प्राप्ति का प्रश्न भी देश के उन्नत मस्तिष्कों को आंदोलित कर रहा है। वर्तमान युग को यदि प्रतिक्रिया का युग कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। स्त्री-जगत् के अंदर भी प्रतिक्रिया की भावना ने तीव्र रूप में प्रवेश कर लिया है। अन्याय, अत्याचार और असमानता के भावों को स्त्रियाँ अब बरदाश्त नहीं कर सकतीं। स्त्रियों की पराधीनता का मूल-कारण स्त्री का पुरुष पर आश्रय और अवलंबन था। इसलिये अब स्त्रियाँ हर दृष्टि से स्वतंत्र होना चाहती हैं। पढ़ी-लिखी लड़कियों में आर्थिक दृष्टि से भी स्वतंत्र होने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। हर क्षेत्र में स्त्रियाँ बढ़ रही हैं। अब वे केवल अपने ही प्रश्नों को हल करना नहीं चाहतीं, किंतु पुरुषों के साथ मिलकर समाज, जाति तथा देश के विस्तृत प्रश्नों के हल करने में भाग लेना चाहती हैं। साम्य तथा स्वातंत्र्य की यह भावना शिक्षित स्त्रियों तक ही सीमित नहीं, किंतु साधारण शिक्षित स्त्रियाँ भी देश के भाग्य-निर्माण में हिस्सा लेना अपना अधिकार समझने लगी हैं। आधुनिक राजनीतिक आंदोलन में छोटी-बड़ी, अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित हर प्रकार की स्त्रियों का भाग लेना उनकी इसी मनोवृत्ति का प्रतिबिंब है। सदियों से सोई हुई स्त्री-जाति

की प्रसुप्त प्रतिभा का जाग्रत् होना, स्वतंत्रता तथा स्वावलंबन के भावों का उदय होना देश तथा समाज के कल्याण के सूचक हैं, क्योंकि जाग्रत्, उन्नति पथ पर अग्रसर, स्वतंत्रता-प्रिय महिला-समाज को साथ लेकर ही समाज, जाति तथा देश चौमुखी उन्नति कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

४. भविष्य

स्वतंत्रता की भावनाएँ किसी भी जाति के लिये उसकी अमूल्य निधि हैं। स्वतंत्र वायुमंडल में साँस लिए बगैर कोई जाति पनप नहीं सकती। सच्ची स्वतंत्रता से ही समाज के अंदर व्यवस्था, सुख तथा शांति की स्थापना हो सकती है। कई लोगों का कहना है कि आजकल की स्वतंत्रता की मनोवृत्ति अनुचित प्रतिक्रिया की भावना का परिणाम है। यदि वास्तव में यह ठीक है, तो भी यह स्वाभाविक है, और इस कारण स्त्री-जगत् की स्वतंत्र होने की भावनाएँ दूषित नहीं कही जा सकतीं। स्वतंत्रता अपने में दूषण नहीं है। किंतु यदि यह स्वतंत्रता की लहर पश्चिमी ढंग पर ही बहती रही, तो अवश्य यह भारतीय संस्कृति के लिये घातक सिद्ध होगी। स्वतंत्रता के पूर्वीय और पश्चिमीय आदर्शों में बहुत भेद है। पश्चिम में स्वतंत्रता अमर्यादित, अनियंत्रित तथा ऊँचे आदर्शों से रहित है। वहाँ की स्वतंत्रता एक आँधी के समान है, जिसमें स्त्रियों के स्वाभाविक गुण—धर्म, लज्जा, विनय, आत्मत्याग—बहे जा रहे हैं। वहाँ जो स्त्री स्वेच्छा से आज अपना पति चुनती है, वह कल उसे तलाक़ देने की

सोच सकती है। आत्मिक सौंदर्य को ठुकराकर शारीरिक सौंदर्य का प्रदर्शन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। यह स्वतंत्रता नहीं, उच्छृंखलता है। भारत में भी उच्च शिक्षित स्त्री-समाज की एक अच्छी संख्या इसी ढंग की स्वतंत्रता की अनुगामिनी बन रही है। वे पश्चिम के आदर्शों पर अंध-विश्वास रखकर उनका अनुसरण कर रही हैं। इसी अनुकरण-प्रियता के जोश में अनेक बहनों ने सिगरेट तक पीना शुरू कर दिया है। पश्चिमी ढंग पर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता को विलास-प्रियता के बढ़ाने में लगाया है। जो स्वतंत्रता मर्यादा के भीतर रहने की अपेक्षा अमर्यादित होना सिखाती है, जो स्वतंत्रता आत्मोन्नति से विमुख करके विलास-प्रियता सिखाती है, जो स्वतंत्रता अपनी संस्कृति तथा अपने आदर्शों को ठुकराकर दूसरों का अंधे होकर अनुकरण करना सिखाती है, वह वास्तविक स्वतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता की छाया है, स्पष्ट शब्दों में उच्छृंखलता है। ऐसी स्वतंत्रता भारतीय उच्च आदर्शों के विपरीत है।

योरप में समाज का संगठन ऐसा है कि वहाँ कुमारी लड़की को पिता, भाई तथा अन्य संबंधियों के होते हुए भी अपनी आजीविका की चिंता शुरू कर देनी पड़ती है। इस कारण वहाँ की उच्च शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर धनोपार्जन हो गया है। इस उद्देश्य को सामने रखकर स्त्रियाँ आजीविका के क्षेत्र में भी पुरुषों के मुकाबिले में घुस पड़ी हैं। जिस समाज में स्त्री और पुरुष प्रतिस्पर्धी के रूप में हों, वहाँ उन दोनो के आदर्शों का एकी-

करण कैसे हो सकता है? इसी कारण वहाँ के कुटुंब तथा समाज में शांति और सुख दोनो का अभाव है। पुरुष और स्त्री की स्पर्धा ने दोनो में ही स्वार्थ को उग्र रूप में प्रकट कर दिया है। न पत्नी पति के लिये स्वार्थ त्याग कर सकती है, न पति पत्नी के लिये। माता तथा पुत्र तक में स्वार्थ की दीवार उठ खड़ी हुई है। यह माना कि योरप की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, किंतु आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन को सरस बनानेवाले आत्मसमर्पण के भाव को खो देना गृहस्थ को कहाँ तक सुखी बना सकता है? स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता ने भी वहाँ ऐसा रास्ता पकड़ लिया है, जिससे पारिवारिक सुख और शांति दूर होती जा रही है। स्त्री की स्वतंत्रता ने योरप के समाज में सुख के स्थान में कटुता, शांति के स्थान में अव्यवस्था फैला दी है। वहाँ के समाज में शांति तथा व्यवस्था की किस प्रकार स्थापना की जाय—योरप के विचारकों के सामने यह एक प्रश्न है, जिसे हल करने में वे अपनी संपूर्ण शक्तियाँ खर्च कर रहे हैं। वहाँ की सामाजिक अवस्थाओं के विरुद्ध योरप में प्रतिक्रिया का प्रादुर्भाव हो चला है। ऐसी अवस्था में क्या भारत का शिक्षित स्त्री-समाज पाश्चात्य बहनों के जीवन का अनुकरण ही करेगा, या जीवन-संग्राम में किसी नवीन मार्ग का निर्माण करेगा।

अभी तक तो यही दिखलाई पड़ रहा है कि भारत में स्त्री-शिक्षा पश्चिमीय आदर्शों की तरफ़ ही जायगी, और कोरे आर्थिक दृष्टि-कोण से जीवन में जो निस्सारता तथा कर्कशता आ सकती है, वह

यहाँ के जीवन में भी आएगी। संभवतः स्त्री के शिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने पर उसका जीवन वर्तमान जीवन से तो बेहतर हो जायगा, परंतु उस जीवन में भी स्त्री को सुख तथा शांति प्राप्त नहीं होगी। स्त्री के आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने के साथ-साथ उसका दृष्टिकोण स्वार्थमय न हो जाय, वह जीवन के गहरे तथा असली रूप को न भूल जाय, वह आत्मसमर्पण की उच्च भावनाओं के अयोग्य न हो जाय, इसका हमें भरसक प्रयत्न करना होगा। हम लोग इस बात को तो अनुभव करने लगे हैं कि स्त्री-जाति की मुसीबतों का एक-मात्र कारण उसका आर्थिक दृष्टि से परतंत्र होना है, परंतु शायद हम इसके साथ-साथ इस बात को अभी नहीं अनुभव कर रहे कि स्त्री के प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में घुस पड़ने से उसके दृष्टिकोण के इतना अधिक स्वार्थमय हो जाने की संभावना है कि वह उन चीज़ों को भी आर्थिक दृष्टि से ही देखने लगेगी, जिन्हें अब तक वह केवल स्त्री की दृष्टि से ही देखती रही है। स्त्री स्वार्थ-त्याग, आत्मसमर्पण तथा प्रेम की प्रतिमा है। इन भावों के सम्मुख आर्थिक स्वतंत्रता एक बहुत तुच्छ वस्तु है। अगर आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन की इन निधियों को खो दिया, तो कुछ नहीं पाया। इन आदर्शों को जीवन में पाकर जो सुख तथा शांति मिल सकती है, वह संसार की कशमकश में पड़कर और बहुत-सा रुपया कमाकर नहीं मिल सकती। स्त्री-जाति का दृष्टिकोण वर्तमान सभ्यता के प्रभाव से बदलता जा रहा

है। प्रकृतिवाद के जाल में फँसकर रुपए-पैसे को ही सब कुछ समझा जा रहा है। यह पुरुषों की बीमारी स्त्रियों में भी फैलती जा रही है। स्त्री-जाति को इससे बचाने की आवश्यकता है। जीवन के हरएक पहलू को आर्थिक दृष्टि से देखने के बजाय प्रेम, त्याग, सेवा, निःस्वार्थ भाव तथा आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से जितना स्त्री-जाति देख सकती है, उतना पुरुष-जाति नहीं। स्त्री की इस विशेषता को खो देना एक अपूर्व संपत्ति को लुटा देना है। स्त्री को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र कर देना बहुत अच्छा है, परंतु स्त्री-जाति का भविष्य उसके आजीविका की दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने में ही नहीं है, उसका भविष्य आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी स्त्री-जाति के उन स्वाभाविक उच्च आदर्शों को बनाए रखने में है, जो आदर्श जीवन को जीवन का रूप दे सकते हैं, और जिन आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने में स्त्री-जाति स्वाभाविक तौर पर अत्यधिक योग्य है।

विवाह का प्राचीन भारतीय आदर्श

१. मनुष्य-जीवन का महत्त्व

भारत के ग्रामीण लोगों की मजलिस में बैठकर वहाँ की चर्चाओं को सुना जाय, तो उनमें कई रहस्यमय गुर सुनाई पड़ते हैं। वे लोग अक्सर कहा करते हैं कि मनुष्य-जीवन ८४ लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अंधे का दृष्टांत दिया जाता है, जो ८४ लाख दरवाजोंवाले मकान के भीतर उसकी दीवार के साथ-साथ रास्ता टटोल रहा है, इनमें से केवल एक कोठरी का दरवाजा खुला है, जिसमें से बाहर निकला जा सकता है, बाकी सब दरवाजे बंद हैं, परंतु जब वह अंधा हाथ से टटोलता-टटोलता खुले दरवाजे के समीप पहुँचता है, तो उसे खुजली उठती है, और वह आगे निकल जाता है, और फिर ८४ लाख दरवाजों को खटखटाने के फेर में पड़ जाता है। जिन लोगों ने हमारे समाज में ऐसे कथानकों को एक-एक झोपड़े तक पहुँचाया था, मालूम नहीं, उन्होंने ८४ लाख योनियों की गिनती की थी, या यों ही इस संख्या को निश्चित कर दिया था, परंतु इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि वे लोग जीवन को एक खिलवाड़ नहीं समझते थे, इसे एक समस्या समझते थे, और खासकर मनुष्य-जीवन को तो बड़ी विषम

समस्या समझते थे। उनका कहना था कि मनुष्य की योनि बड़ी दुर्लभ है, इसे पाकर उसके साथ खिलवाड़ करना मूर्खता की परा काष्ठा है।

मनुष्य-जीवन को इतना दुर्लभ माननेवालों की दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से अत्यंत भिन्न होगी, जो जीवन को एक आकस्मिक घटना-मात्र समझते हैं, इसे पाँच तत्त्वों के पुतले के सिवा और कुछ नहीं समझते। मनुष्य-जीवन यदि भिन्न-भिन्न जन्म-जन्मांतरों की शृंखला में केवल एक कड़ी है, और यदि इस कड़ी की मज़बूती पर सारी ज़ंजीर का मज़बूत होना निर्भर है, तो इस जीवन के प्राप्त होने का एक-एक क्षण अमूल्य हो जाता है। इसमें खोए हुए एक भी पल का परिणाम फिर से ८४ लाख योनियों में भटकना हो सकता है। परंतु इसके विपरीत, यदि यह जीवन एक आकस्मिक घटना है, तो इसका मूल्य एक अद्भुत खिलौने से अधिक नहीं रहता। एक गुड़िया को देखकर हम खुश होते हैं, और ऐसे लोगों की नज़रों में मनुष्य का शरीर एक चलने, फिरने, बोलनेवाली हाड़-मांस की गुड़िया है, और कुछ नहीं। इसीलिये जीवन पर उथला विचार करनेवाला, उसे आकस्मिक घटना-मात्र समझनेवाला व्यक्ति दुःख में पड़कर आत्मघात कर लेना अनुचित नहीं समझता। योरप में खुदकशी की तादाद दिनोदिन बढ़ती जा रही है, परंतु ८४ लाख योनियों के फेर में पड़ने से डरनेवाला भारतवासी भूख से तड़फता हुआ, सर्दी से व्याकुल होता हुआ

और बीमारी से छटपटाता हुआ भी आत्मघात करने की नहीं सोच सकता। नहीं तो इस देश की तो ऐसी अवस्था है कि ३५ करोड़ में से ३० करोड़ कभी के आत्मघात कर चुके होते। "असुर्या नाम ते लोका अन्धे न तमसावृता; तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः"—आत्मघात कर इस जन्म के दुःख से बचने का प्रयत्न करनेवाला अगले जन्म में इससे भी भयंकर दुःख भोगता है, यह प्राचीन ऋषियों का मंतव्य है।

उक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि प्राचीन काल के ऋषि मनुष्य-जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे, और उसके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारक लगा दिए थे। मनुष्य-जीवन की समस्या का उन्होंने जो हल किया था, उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की रचना की गई थी। उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिये जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था, जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

२. वह आदर्श क्या था ?

यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक या आकस्मिक घटना नहीं, तो इस समस्या का हल अवश्य होना चाहिए, इसे एक खिलवाड़ की चीज़ नहीं समझना चाहिए। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का हल जीवन को एक निश्चित आदर्श में बाँधकर किया था। वह आदर्श क्या था ? यजुर्वेद में कहा है—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु

चात्मानं ततो न विचिकित्सति"—जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अंदर देखता है, और अपने को सबमें देखता है, वह संदेहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है। अपने को अपने अंदर देखनेवाले तो सब हैं, परंतु दूसरे में अपनापन अनुभव करना जीवन का एक विलक्षण, विरला, भारतीय आदर्श है। मनुष्य की अंतरात्मा का विकास इसी को कहते हैं। आज हमारे शहरों की गलियों में सैकड़ों भूखे, नंगे कराहते फिरते हैं, परंतु क्या उनके दुःख को देखकर किसी के हृदय में कराहना उठती है, क्या कोई उनकी तड़पन को अनुभव करता है, क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे भी उसी मानव-समाज के अंग हैं, जिसके हम अपने को अंग समझते हैं! यदि सचमुच किसी के हृदय में ये भाव उठते हैं, तो वेद की दृष्टि में उसकी आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ़ जा रहा है, नहीं तो धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं, जिस पर हजारों प्राणियों का प्रतिदिन वध होता है, परंतु आत्मा न होने के कारण उसका एक आँसू भी नहीं निकलता। महात्मा सुक़रात की आत्मा विकसित थी, क्योंकि वह अपने को ज़हर देनेवालों पर रहम की नज़र फेर सकता था। हज़रत मसीह की आत्मा ऊँची थी, क्योंकि वह अपने समय के दीन-दुखियों के चीत्कारों को अपने हृदय में गूँजते हुए सुनते थे, और उन्हीं की तरह व्याकुल हो जाते थे। जो आत्मा प्राणी-मात्र के हृदय के स्पंदन को अपने भीतर अनुभव कर सकती है, वह

बड़ी है, महान् है, विकसित है, और वह जीवन के भारतीय उच्च आदर्श तक पहुँच चुकी है; क्योंकि वेद की घोषणा है—"मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्", "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।" इसी भाव के आवेश में हज़रत मसीह ने कहा था—"Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you rest." जीवन का आदर्श दूसरे के बोझ को अपने हाथों से अपने कंधों पर लेना है, दूसरे के आँसुओं को अपने आँसुओं में बहा देना है, दूसरे के घाव को अपने हृदय के मरहम से चंगा करना है। जीवन को खिलवाड़ समझनेवाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, परंतु मनुष्य-जीवन को एक अमूल्य देन समझनेवाला व्यक्ति ऐसा किए बग़ैर रह नहीं सकता। इसी में आत्मा की उन्नति है, आत्मा का विकास है, और इसी में आत्मा अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को पाती है।

३. आदर्श की क्रियात्मकता

प्रश्न हो सकता है कि इस आदर्श को जीवन में क्रियात्मक रूप देने के लिये ऋषियों ने क्या उपाय सोचा था? इसका उत्तर ऋग्वेद (९।१०।१) में इस प्रकार दिया है—"चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।" सोम चारो भुवनों या आश्रमों को 'अन्या निर्णिजे' और ही कुछ बना देता है, उनमें जान डाल देता है। अथर्व (१४।१।६०) में इसी

प्रश्न का उत्तर यों दिया है—"भगवांस्तस्य चतुरः पादान् भगवांस्तस्य चत्वार्यायुष्यभजनि।" परमात्मा ने जीवन को आयु के चार भागों में विभक्त कर दिया है। शतपथ (१४ का०) में इन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है—"ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।" मनुष्य-जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीक़ा यह है कि पहले ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे, ब्रह्मचर्य के उपरांत गृहस्थ, बाद को वानप्रस्थ और फिर संन्यास-आश्रम में प्रवेश करे। आत्मा को अपने आदर्श तक पहुँचाने का, उसे पूर्ण रूप से विकसित करने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' से, 'Self' से प्रारंभ होती है। यह 'स्व' या अपनी आत्मा ही तो आगामी आनेवाले विकास का आधार है, इसलिये प्राचीन ऋषियों ने इस 'स्व' की आधार-शिला को दृढ़ बनाने के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया है। इस आश्रम में 'स्व' के या अपने सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्मचारी अपने इर्द-गिर्द घूमता है, वह अपने शरीर की, अपने मन की और अपनी आत्मा की उन्नति करता है, अपने से बाहर उसे देखने को नहीं कहा गया। परंतु जब वह अपने 'स्व' को दृढ़ बना चुका, तब उसे अपनी आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है, और वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि केवल अपने तक सीमित थी, परंतु गृहस्थावस्था में वह अपने 'स्व' के अंदर दूसरों को शामिल करने का पाठ सीखता है।

वेद का कथन है—"इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।" (ऋक् १०।८५। ४५)—एक समृद्ध देश में स्वस्थ माता-पिता का दस संतानों का परिवार होना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य की दृष्टि अपने ही ऊपर रहती है, परंतु गृहस्थाश्रम में माता-पिता अपनी दृष्टि को अपने ऊपर से उठाकर कम-से-कम अपनी संतानों तक तो विस्तृत कर ही देते हैं। वे खुद भूखे रह सकते हैं, परंतु अपनी संतानों को भूखा नहीं देख सकते। खुद काँटों से लहूलुहान हो सकते हैं, परंतु अपने बच्चे की उँगली में एक काँटा भी चुभता हुआ नहीं देख सकते। त्याग के जीवन की पराकाष्ठा गृहस्थ में है, परंतु जीवन का भारतीय आदर्श गृहस्थ तक रुक नहीं जाता। गृहस्थ तो आत्मा के 'सर्वभूत हिते रतः' के क्रमिक विकास में एक सीढ़ी-मात्र है, एक मंज़िल है, एक स्टेज है। जीवन का असली उद्देश्य तो आत्मा का ऐसा विकास है, जिसमें वह अपने को ही नहीं, अपनी पत्नी को ही नहीं, अपने बाल-बच्चों को ही नहीं, परंतु प्राणी-मात्र को अपना समझने लगता है, विश्वात्मा में अपनी आत्मा को ओत-प्रोत कर देता है, घुला-मिला देता है, 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' का अनुभव करने लगता है, दूसरों की आत्मा में अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष करता है। ऐसे विकास का, ऐसे उदय का, सीमित, छोटा रूप गृहस्थाश्रम में दिखाई देता है, जहाँ वेद-मंत्र के अनुसार बारह व्यक्तियों के कुटुंब में माता-पिता अपनी

आत्मा को बारह तक फैला देते हैं। परंतु यहीं पर रुक जाना, यहीं पर ठहर जाना और आगे क़दम न रखना भारतीय आदर्श के विपरीत है। तभी गृहस्थ को एक आश्रम कहा गया है। आश्रम का अर्थ है एक मंज़िल, एक स्टेज। गृहस्थाश्रम आत्मिक जीवन के विकास में एक सीढ़ी है, एक मंज़िल है, और यात्री को अभी इससे बहुत आगे चलना है। अभी तो माता-पिता तथा दस संतानों में—कुल १२ प्राणियों के परिवार में एकता की, ममता की, अहंत्व की अनुभूति हुई है, इस छोटे-से समूह में 'एकत्वमनुपश्यतः' की भावना का उदय हुआ है, परंतु जीवन का उद्देश्य प्राणी-मात्र में एकता के सूत्र को पिरो देना है। तभी तो भारतीय आदर्श के अनुसार 'गृही भूत्वा वनी भवेत्' गृहस्थाश्रम में आत्मा का जितना विकास हो सकता है, उतना करके वानप्रस्थी हो जाय, यह कहा है। आज हम पैदा होते ही गृहस्थाश्रम की सोचने लगते हैं, और जब तक चार कंधों पर चढ़कर 'राम-नाम सत्य है' की गूँज में श्मशान नहीं पहुँच जाते, तब तक गृहस्थाश्रम के ही कीड़े बने रहते हैं, इससे ज़्यादा गृहस्थाश्रम की दुर्गति नहीं हो सकती। प्राचीन आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम तो आत्मा के विकास के लिये एक ख़ास हद तक, एक ख़ास सीमा तक आवश्यक है। उसके बाद गृहस्थाश्रम में फँसे रहना आत्मा का सर्वनाश करना है। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम से गुज़र चुका है. उसने दूसरों को अपना समझने का पाठ २५ साल तक सीखा है, अब वह अपने बच्चों की तरह दूसरों

के बच्चों को भी अपना समझने लगता है। वह जंगल में बैठ जाता है। उसके पास गाँव के, शहर के बालक पढ़ने को आते हैं। वह सबको अपना समझकर पढ़ाता है, और सबमें अपनी आत्मा को देखता है। सबमें अपनापन अनुभव करता है। इस अभ्यास के बाद संन्यास-आश्रम है। संन्यास में वह सबको, प्राणी-मात्र को, अपना समझने लगता है। उसका लगाव सबसे समान हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम आदर्श यही है। इसे प्राचीन आर्य आश्रम-व्यवस्था कहा करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास तक पहुँचते-पहुँचते जहाँ पहले उसकी दृष्टि अपने तक सीमित थी, वहाँ वह अपने से हटकर दूसरों तक फैलती जाती है। यहाँ तक कि चारो आश्रमों में से गुजर-कर खुदी मिट जाती है, और ख़ुदी ही बाक़ी रह जाती है। फ़र्क़ इतना है कि पहले खुदी ख़ुद तक महदूद थी, और अब ख़ुदी ख़ुदा तक पहुँच जाती है। शायद इसी ऊँचे अनुभव को किसी दीवाने ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के उद्गार से प्रकट किया था।

४. गृहस्थाश्रम का भारतीय आदर्श 'ब्रह्मचर्य' था

मैंने विवाह के भारतीय आदर्श पर कुछ लिखने से पहले 'जीवन के प्राचीन आदर्श' पर शायद कुछ जरूरत से ज़्यादा कह दिया है, परंतु वेद तो गृहस्थी के आदर्श को जीवन ही के आदर्श की पूर्ति में एक साधन-मात्र समझता है, गृहस्थी का

आदर्श जीवन के आदर्श का ही केवल एक चौथाई हिस्सा है। इसलिये मैं समझती हूँ कि हमारे सम्मुख जीवन का आदर्श जितना स्पष्ट होगा, गृहस्थी का आदर्श उसी मात्रा में स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इसलिये विवाह के आदर्श पर विचार करते हुए मैंने जीवन के आदर्श पर इतना विचार किया है।

गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केंद्र अपने से हिलकर दूसरों में जाना प्रारंभ करता है, स्वार्थ का अंश पर्दे की ओट में होने लगता है, और उसकी जगह परार्थ का भाव सामने आने लगता है, अतः यह बड़ी ज़िम्मेदारी का आश्रम है। जिसने पहले अपने केंद्र को अपने अंदर नहीं पहचाना, उसे अपने अंदर दृढ़ नहीं बनाया, अपनी ही उन्नति नहीं की, वह दूसरों का क्या ख़याल कर सकता है। इसलिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले, 'परार्थ' को 'स्वार्थ' बनाने से पहले, ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। इस आश्रम में अपनी पूर्ण रूप से उन्नति करना अभीष्ट है। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर, मन तथा आत्मा की उन्नति कर ली है, वही उस उन्नति को दूसरों की उन्नति के लिये आधार बना सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया। मनु ने कहा है—"अवि-प्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्"—जिसके ब्रह्मचर्य का भंग न हुआ हो, वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। कन्या के विषय में भी वेद का वचन है—"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्"

इसी भाव को वेद में अन्यत्र इस प्रकार कहा है—"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये। रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।" पहले कन्या सोम के पास रहती है। सोम का अर्थ है 'वीरुधां पतिः', वनस्पतियों का राजा। अर्थात् फल आदि के उत्तम आहार से कन्या का शरीर पुष्ट होता है। तदनंतर कन्या गंधर्व को दे दी जाती है। गंधर्व का काम गाना-बजाना है। कन्या गाना-बजाना सीखती है, उसका मानसिक विकास होता है। मानसिक विकास हो जाने के बाद वह अग्नि के सुपुर्द होती है, उसके शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। इसके बाद वह पुरुष से विवाह दी जाती है। कैसा स्वाभाविक तथा स्पष्ट वर्णन है। यह वेद का शारदा-ऐक्ट है। इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि कन्या का विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, उससे पूर्व नहीं। आज जो कच्ची आयु में कन्याओं का विवाह हो जाता है, वह विवाह प्राचीन आदर्श से सर्वथा विपरीत है। वेद का आदर्श तो यह है कि जो गृहस्थ होना चाहे, वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण-पत्र पेश करे, और जो ऐसा प्रमाण-पत्र न दे सके, उसके साथ कोई पिता अपनी पुत्री का विवाह न करे। आज अखबारों में इश्तिहार निकलते हैं—"लड़का चाहिए, जो २५०) महीना कमाता हो, विलायत से लौटा हो।" यदि वैदिक काल में अखबार होते, और उनमें भी इश्तिहार निकलते

होते तो उनमें लिखा होता—"एक ब्रह्मचारी चाहिए", और यदि उस समय भी विलायत ऐसा ही होता, जैसा आज है, तो इश्तिहार में साफ़ लिखा होता कि 'विलायत से लौटा हुआ नहीं होना चाहिए'। आज जो लड़का बिगड़ने लगता है, माता-पिता उसका जल्दी विवाह कर देते हैं। परंतु प्राचीन आदर्श के अनुसार जो लड़का बिगड़ने लगे, उसके विवाह की कोई आशा नहीं रहती; उसे विवाह का कोई अधिकार नहीं रहता। बिगड़े हुए इंसान को अपने-जैसी बिगड़ी हुई संतानें उत्पन्न करके समाज को गंदा करने का कोई अधिकार नहीं है। जिस आदर्श के अनुसार अब्रह्मचारी चाहे २५ वर्ष का भी क्यों न हो, शादी भी नहीं कर सकता, उसके अनुसार लठिया टेककर चलनेवाला बुड्ढा शादी कैसे कर सकता है? वैदिक आदर्श के अनुसार केवल ब्रह्मचारी विवाह का अधिकारी है, दूसरा नहीं।

५. विवाह में 'प्रेम'—स्वयंवर

विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, ब्रह्मचारी का ही होना चाहिए, अब्रह्मचारी का नहीं होना चाहिए—यह हमने देख लिया। परंतु विवाह कैसे हो? क्या विवाह के मामले में लड़के-लड़की की भी कुछ सुनी जानी चाहिए, या यह ऐसा मामूली काम है कि इसे एक अपढ़ नाई के भरोसे ही छोड़ा जा सकता है? वेद की इस विषय में दृढ़ तथा निश्चित सम्मति है। ऋग्वेद (७ अ०, ७ वर्ग, १७ मं०, १२ मंत्र) में लिखा है—

"कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।"—"वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी?" इस प्रश्न को स्वयं उठाकर वेद उत्तर देता है—"(सुपेशाः) सुंदर रूपवाली वह वधू अच्छी है, जो (जने चित्) अनेक जनों में (मित्रं स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है।" इस मंत्र में स्त्री के लिये अपने पति को स्वयं चुनने का विधान है; इसी को 'स्वयंवर' कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से एक लड़की को चुनता है, परंतु प्राचीन भारतीय आदर्श ठीक इससे उल्टा है। चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है। इस प्रकरण में मुझे १५ जून १९३१ के 'लीडर' अख़बार का एक इश्तिहार स्मरण हो आता है। इश्तिहार में लिखा था—

"Wanted:—An exceptionally fair complexioned (Matching Europeans) and good featured Bengali Brahman girl for marriage with a Bengali (Bachelor) doctor practising at Lucknow, besides having independent income from properties and employment. No dowries will be accepted. Caste will be no bar, but guardians of dark-complexioned girls need not write."

शायद इस इश्तिहार को पढ़कर लोग हँसें। हँसने की बात भी है। डॉक्टर साहब अपने विषय में तो इतना ही बतलाते हैं कि वह निखट्टू नहीं हैं, और अविवाहित हैं। परंतु आजकल के युग में अविवाहित होने का अभिप्राय ब्रह्मचारी होना भी हो, यह बात नहीं है। अविवाहित व्यक्ति गृहस्थी से भी ज़्यादा गिरा हुआ हो सकता है। परंतु हाँ, यह डॉक्टर महाशय यह ज़रूर चाहते हैं कि हिंदोस्तान-भर के ऐसे माता-पिता जिनकी लड़कियों का रंग योरपियनों-जैसा हो, अपनी लड़कियों की दरख़्वास्तें लेकर इनका दरवाज़ा खटखटाएँ। इन डॉक्टर पर हमें हँसने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि यह महाशय तो इस युग में फैली हुई मनोवृत्ति के एक उदाहरण-मात्र हैं। आजकल के ज़्यादा-से-ज़्यादा सुधरे हुए आदर्श के अनुसार भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है, और कहीं-कहीं स्वीकृति लड़की से भी ले ली जाती है। परंतु वैदिक आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकार लड़की को प्राप्त था, स्वीकृति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे, और उनमें से किसी एक के गले में वर-माल डाली जाती थी। दमयंती के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार आए थे, सीता के स्वयंवर में भी रामचंद्र राजा जनक के यहाँ अपनी परीक्षा देने पहुँचे थे, द्रौपदी का स्वयंवर भी ऐसा ही था। उसी का अवशेष आज भी बचा हुआ है। वर वधू के घर पर चलकर आता है, और वधू के घर पर ही विवाह-

संस्कार होता है। यह प्रथा स्वयंवर-प्रथा का ही टूटा-फूटा रूप है।

वैदिक आदर्श में विवाह होने से भी पहले स्त्री के एक बड़े भारी अधिकार को माना गया है। स्त्री को अधिकार है कि वह किसे अपनी भावी संतान का पिता बनाए या किसे न बनाए। यह छोटा-मोटा अधिकार नहीं है। इस अधिकार को पाकर ही स्त्री पति की आज्ञाकारिणी हो सकती है, नहीं तो डंडे के ज़ोर पर तो आज्ञा चलती ही है। आज माता-पिता जिस लड़के से चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं। क्या इस प्रकार बँधकर पति-पत्नी प्रेम के उस एकता के सूत्र का विस्तार कर सकते हैं, जिसके लिये गृहस्थाश्रम एक साधन-मात्र है? गृहस्थाश्रम तो अपनी आत्मा को विकसित करने के लिये है, परार्थ को स्वार्थ बनाने के लिये है। परंतु जहाँ प्रारंभ में ही ठीक चुनाव नहीं हुआ, वहाँ जीवन की धारा शांति से कैसे वह सकती है, उसका विकास कैसे हो सकता है? इसलिये विवाह में चुनाव एक ज़रूरी चीज़ है। वेद के आदेश के अनुसार स्त्री अपने पति को चुनती है, वरती है। यह अधिकार पति को न देकर पत्नी को क्यों दिया गया है? क्योंकि गृहस्थाश्रम का वास्तविक बोझ तो पत्नी पर ही है। संतानोत्पत्ति का महान् कष्ट पत्नी को उठाना पड़ता है, अपनी स्वतंत्र सत्ता को पति में खोकर एक घर का केंद्र बनकर पत्नी को बैठना है। खूँटे की तरह अवि-चल रूप से एक जगह उसी को गड़ जाना है। जब उस पर

इतनी ज़िम्मेवारी है, और उसके लिये उसको इतना त्याग करना है, तो चुनाव उस पर न छोड़ा जाय, तो किस पर ?

६. स्त्री-पुरुष का सखि-भाव

जब पति-पत्नी ने एक दूसरे को स्वयं चुना है, तो उनका पारस्परिक संबंध मित्रता के संबंध के अतिरिक्त और कौन-सा हो सकता है ? दोनों एक दूसरे के सुख-दुख के साथी (Companion) हैं। इसलिये मंत्र में 'मित्रं स्वयं वृणुते' का प्रयोग हुआ है। अर्थात् स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है। आज-कल कितने पुरुष हैं, जो अपनी स्त्री को मित्र कह सकें। गृह्य सूत्र में लिखा है—"यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम, यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव।"—"जो तेरा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाय, और जो मेरा हृदय है, वह तेरा हृदय हो जाय।" विवाह-संस्कार में 'सप्तपदी' के समय 'सखायौ सप्तपदी भव' यह पढ़ा जाता है, इसमें भी, स्त्री को सखा कहा गया है। जैसा प्रारंभ में कहा गया था—विवाह तो जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये एक साधन-मात्र है। जीवन का उद्देश्य संसार के सब प्राणियों में अपनापन अनुभव करना है, मित्रता अनुभव करना है। इसलिये विवाह में भी पति-पत्नी में मित्रता, सखि-भाव ज़रूरी है, नहीं तो विवाह का एक प्रधान उद्देश्य पूरा ही नहीं हो सकता।

संसार में ज्ञान से अज्ञान की तरफ़ जाने का प्रयत्न होता है। जो कुछ हमारे पास है, जो कुछ हमें प्राप्त है, उसी के आधार

पर जो कुछ हमारे पास नहीं है, हमें अप्राप्त है, उसे पाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष में तो प्रेम स्वाभाविक है। उसके लिये कोई स्कूल पढ़ने नहीं जाता, परंतु प्राणी-मात्र के लिये प्रेम का पाठ सीखना पड़ता है, वह बैठे-बैठे नहीं आ जाता। स्त्री तथा पुरुष के इसी स्वाभाविक प्रेम को प्राणी-मात्र तक ले जाने का, एक कठिन काम को आसान बनाने का प्रयत्न गृहस्थाश्रम द्वारा किया जाता है। परंतु यदि पति-पत्नी में प्रारंभ में ही सखि-भाव नहीं है, मैत्री नहीं है, नजदीकी नहीं है, तो यह आशा करना कि गृहस्थाश्रम ऐसे दंपति की आत्मा का विकास करेगा या उसमें प्राणी-मात्र के लिये प्रेम उत्पन्न करेगा, मूर्खता है। इसीलिये विवाह के वैदिक आदर्श में स्त्री-पुरुष का आपस में मैत्री भाव से खिंचे होना जरूरी है। इसी प्रेम का, इसी मैत्री भाव का तो आगे विस्तार करना है। यह है ही नहीं, तो आगे विस्तार किस चीज का होगा? मैं तो समझती हूँ कि वैदिक आदर्श की दृष्टि से वह विवाह विवाह ही नहीं, जिसमें स्त्री-पुरुष का आपस में मैत्री भाव या सखि-भाव नहीं। विवाह में प्रेम ही तो एक तत्त्व है, जिसे संकुचित क्षेत्र से निकालकर हम विस्तृत क्षेत्र में विकसित करना चाहते हैं। जिस क्षेत्र में यह बीज ही नहीं पड़ा, वहाँ संसार के प्रति मैत्री भाव का अंकुर कैसे फूट सकता है?

७. संतानोत्पत्ति

वैदिक आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाह-बंधन में

जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्माएँ अपने को एक सूत्र में इसलिये बाँधती हैं, ताकि अन्य आत्माओं को भी इसी सूत्र में बाँध लिया जाय। इसीलिये विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श संतानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ भी स्त्री और पुरुष का इकट्ठा वर्णन आता है, वहाँ संतान का ज़िक्र अवश्य पाया जाता है। आजकल की सभ्यता के कई लोग तो बार-बार इस बात का वर्णन देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। आजकल के लोग संतान-निग्रह का वर्णन बड़े चाव से पढ़ते हैं, संतानोत्पत्ति मानो उन्हें खाए-सी जाती है। विवाहित स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे में अपनी आत्मा को घुला-मिला देते हैं। वे 'यदस्ति हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम' का पाठ सीख लेते हैं। पुरुष स्त्री को बचाकर सब कष्ट अपने ऊपर झेलना चाहता है, स्त्री पति को बचाकर जीवन के कष्टों को अपने ऊपर लेना चाहती है। जब उनके संतान हो जाती है, तब दोनो सब कष्टों को अपने ऊपर लेकर बच्चे पर किसी तरह की आँच नहीं आने देना चाहते। एक संतान के बाद दूसरी संतान होती है, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी। माता-पिता एक विचित्र पाठशाला में शिक्षा पाने लगते हैं। ऐसी पाठशाला में, जिसमें बच्चा कहीं जाग न जाय, इस-लिये माता रात-भर स्वयं जागकर उसे गोदी में लिए बैठी रहती है। बच्चे को कहीं सर्दी न लग जाय, इसलिये माता अपना सूखा बिछौना उसके नीचे करके स्वयं उसके पेशाब से गीले बिस्तर

पर रात काट डालती है। वेद के अनुसार आठ-दस बच्चों को इस प्रकार पालकर माता-पिता की आत्मा का ऐसा विकास हो सकता है, जिससे वे दुनिया-भर के बच्चों में अपने बच्चों की झलक देख सकते हैं, और अपनी आत्मा के तंतु को प्राणी-मात्र के मनकों में पिरो सकते हैं। गृहस्थाश्रम इस ऊँचे आदर्श का पाठ पढ़ाने के लिये, उसका अनुभव कराने के लिये और इस अनुभव को माता-पिता की रग-रग में रचा देने के लिये एक पाठशाला है। तभी कहा है—"केवलाघो भवति केवलादी।" जो गृहस्थ दूसरे को खिलाकर नहीं खाता, वह पाप खाता है। वैदिक आदर्श के अनुसार मैं खाने की तभी अधिकारिणी हूँ, जब खुद खाने के पहले दूसरे को खिला सकूँ। मैं जीने की तभी अधिकारिणी हूँ, जब दूसरे के लिये अपने जीवन को लगा सकूँ। यही पाठ गृहस्थ को अनुभव से सीखना है, दस-बारह की टोली में इस बात का अभ्यास करना है। आज तो यह पाठ पढ़ाया जाता है कि अपने जीवन के लिये दूसरे को हज़म कर जाओ, परंतु गृहस्थ का वैदिक आदर्श यह है कि दूसरे के जीवन के लिये अपनी जान देने की ज़रूरत पड़े, तो उसे उठाकर फेक दो। गृहस्थ ने इसी आदर्श को सीखने के लिये विवाह किया है, इसलिये हिंदू-समाज में संतान न होने को एक महान् कष्ट समझते हैं। गृहस्थ का वैदिक आदर्श संतानोत्पत्ति है, संतान-निग्रह नहीं। वहाँ लिखा है—"पुत्रान् विन्दावहै बहून्।" "हम दोनो स्त्री-पुरुष बहुत-से पुत्र प्राप्त करें।" जिसके संतान नहीं, उसे मालूम नहीं कि दूसरे के लिये किस

प्रकार जगा करते हैं, दूसरे के लिये किस प्रकार काँटों पर चला करते हैं, दूसरे के लिये किस प्रकार सूखे चने चबाकर और पानी पीकर गुजारा किया करते हैं। हाँ, जो व्यक्ति बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए यह सब कुछ करने के लिये तैयार है, वैदिक आदर्श के अनुसार उसके लिये विवाह का भी विधान नहीं है। उसके लिये तो लिखा है—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" जिस दिन उसमें ममता का भाव छूट जाय, सीमित ममता के स्थान पर विशाल ममता का भाव आ जाय, 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का साक्षात्कार हो जाय, उसी दिन भगवा रँगवा ले। परंतु ऐसा सबके लिये संभव नहीं है। साधारण लोगों के लिये इस ऊँचे आदर्श को जीवन में सीखने का तरीक़ा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही है। वैदिक आदर्श के अनुसार विवाह तभी सफल कहा जा सकता है, जब उसका फल संतान हो। पत्नी का लक्ष्य माता बनना है, और पति का ध्येय पिता बनना है। जो पत्नी माता नहीं बनी, और जो पति पिता नहीं बना, उसने गृहस्थी का पाठ ही नहीं सीखा।

८. संतान कैसी हो ?

वेद संतानोत्पत्ति पर बल देता है, परंतु संतान कैसी हो? संतति-सुधार के विज्ञान का तो योरप में अब प्रचार होने लगा है, परंतु वेद इस प्रकार के विचारों से भरा पड़ा है। जिनको वेद से साधारण-सा भी परिचय है, वे यह देखे बग़ैर तो रह नहीं सकते कि वेद में संतति-सुधार (Race-betterment)

का विचार एक-एक सूक्त में भरा पड़ा है। वेद में टूटी-फूटी संतान उत्पन्न करने की सख़्त मनाही है। वेद में स्त्री को 'वीरसू' कहा गया है, अर्थात् वीरों को उत्पन्न करनेवाली, कायरों और बुज़दिलों को नहीं; युद्ध में छाती पर वार लेनेवाली संतान को पैदा करनेवाली, पीठ पर नहीं। वेद का कोई मंत्र ऐसा नहीं, जिसमें संतान का ज़िक्र तो हो, और उसमें यह न लिखा हो कि वह सौ साल तक जीनेवाली हो, हृष्ट-पुष्ट हो, उत्तम विचारोंवाली हो, माता-पिता से कहीं आगे बढ़ी हुई हो। एक जगह कहा है—

"तं माता दशमासान् बिभर्तु स जायतां वीरतमः स्वानाम्"

दश मास के बाद जो पुत्र हो, वह (स्वानाम्) अपने सब संबंधियों में से (वीरतमः जायताम्) वीरतम हो, अर्थात् सबसे अधिक वीर हो। संस्कृत से साधारण-सा परिचय रखनेवाले व्यक्ति ने भी यह सूक्ति सुनी होगी—

"एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया :
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।"

शेरनी एक सुपुत्र से निडर होकर आराम से सोती है, और गधी दस पुत्र होने पर भी भार ही ढोती है।

संतानोत्पत्ति का आदर्श कुत्ते-बिल्लियों की तरह झोल-की-झोल पैदा कर देना नहीं है, वैदिक आदर्श यह है कि पिछली पीढ़ी (Generation) शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों में जिस ऊँचाई पर खड़ी थी, अगली पीढ़ी उससे दस

क़दम आगे वढ़ी हुई हो, और पिछलों से वहुत आगे निकल जाय। इस प्रकार हरएक पीढ़ी पिछली पीढ़ी से वहुत आगे निकलती जाय, और हरएक २५ साल के वाद मानव-समाज में एक आश्चर्य-जनक उन्नति दिखाई दे। आज अगली पीढ़ी पिछली से आगे वढ़ने के वजाय उससे दस क़दम पीछे हटकर जन्म लेती है, और पैदा होकर आगे वढ़ने के वजाय पीछे की तरफ़ वेतहाशा दौड़ पड़ती है। जो हमारे माता-पिता के क़द और शरीर थे, वे हमारे नहीं हैं। और, जो हमारे दादा-परदादा के शरीर थे, वे हमारे माता-पिता के नहीं हैं। यह दौड़ आगे को नहीं, पीछे को है। वैदिक आदर्श ठीक इससे उल्टा है। वहाँ तो लिखा है—'स्वानां वीरतमः जायताम्।' अर्थात् आनेवाली संतान इतनी वीर हो, जितनी पिछलों में से एक भी नहीं हुई। इसी प्रकार एक और मंत्र में लिखा है—

"अनूनः पूर्णो जायतां अश्लोणोऽपिशाचधीतः"

संतान 'अनून' हो, उसमें कोई न्यूनता न हो, कमी न हो; और 'पूर्ण' हो। इतना ही नहीं कि उसमें कोई कमी न हो, प्रत्युत वह सव वातों में पूर्ण हो। साथ ही वह 'अपिशाचधीतः' हो, अर्थात् वह पिशाच, (वुरे विचारों) की संतान न हो। वैदिक आदर्श यह है कि ऐसे विचारों को लेकर संतान उत्पन्न की जाय। वेद के अनुसार विवाह का आदर्श स्त्री-पुरुषों की ऐसी श्रेणी को जन्म देना है, जो पिछलों की अपेक्षा 'वीरतम' हो, 'अनून' हो, 'पूर्ण' हो, और 'पिशाच'-विचारों से मुक्त हो;

इसके विपरीत आज ऐसी संतानें उत्पन्न हो रही हैं, जो 'कायरतम' हैं, 'न्यून' हैं, 'अपूर्ण' हैं, और पिशाच-विचारों की हैं। आज बेसमझे-बूझे में संतानें गले पड़ जाती हैं; ऐसी संतानों का भविष्य क्या हो सकता है?

६. घर में स्त्री की स्थिति

विवाह के बाद स्त्री की घर में क्या स्थिति होनी चाहिए, इस पर भी वेद ने प्रकाश डाला है। आज स्त्री की घर में कोई स्थिति नहीं है। वह पर्दे में लिपटी रहती है, घर में रहती हुई भी वह घर में नहीं दिखाई पड़ती। परंतु वेद में पर्दे को कोई स्थान नहीं है। जैसे पुरुष अपना मुँह खोलकर चल-फिर सकता है, वैसे स्त्री भी खुले मुँह विचरण करती है। वेद का कथन है, "सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत"—"यह मंगल करनेवाली वधू है, इसे आकर देखो।" आज अगर पर्दे के जमाने में कोई अपने मित्रों से कह बैठे कि मेरी स्त्री को आकर देखो, तो लोग उसका नाक में दम कर दें। आज हम इतने गंदे हो गए हैं कि वेद का यह ऊँचा भाव कि पति अपनी पत्नी का अपने मित्रों से परिचय कराए—हमारे गले के नीचे नहीं उतर सकता। वैदिक आदर्श के अनुसार पति-पत्नी का तो विवाह से पहले ही परिचय होना चाहिए। हमारा गंदा समाज यह समझता है कि किसी स्त्री का पति, पिता, पुत्र या भाई के सिवा किसी अन्य पुरुष से परिचय होगा, तो जरूर गिरावट की आशंका रहेगी, परंतु वेद ऐसा समाज उत्पन्न करना चाहता है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों से

और पुरुष स्त्रियों से ऐसे ही स्वतंत्र रूप से मिल-जुल सकें, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, या स्त्रियाँ स्त्रियों से मिलती हैं। घर में लाकर स्त्री को कोठरी में बंद नहीं कर दिया जाता, वह पर्दे में क़ैद नहीं रहती। वह ऐसे ही स्वतंत्र विचरती है, जैसे समाज में पुरुष, और इसके साथ उसके गिरने की कोई आशंका भी नहीं रहती। वेद ऐसे ही समाज की कल्पना करता है।

योरप में स्त्री को पुरुष की Better half (उत्तमार्ध) कहते हैं; परंतु हमारे यहाँ उसे अर्धांगिनी या Equal half कहा गया है। वहाँ Better half होते हुए भी स्त्री की यह स्थिति है कि कन्यादान के समय सारा कार्य लड़की का पिता अकेला करता है। वह न हो, तो लड़की का चचा कन्यादान का अधिकारी है, परंतु वैदिक विवाह में कन्यादान की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञ-वेदी पर नहीं बैठती। वैदिक मर्यादा का कोई यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता, जब तक यजमान और यजमान-पत्नी दोनो भाग न लें। जिन लोगों की मर्यादा किसी समय इतनी ऊँची रही हो, उनके यहाँ लड़कियों की शिक्षा तक बंद कर दी जाय, यह समय का ही फेर है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि वैदिक आदर्श में स्त्रियों को स्त्री होने से किसी बात की रुकावट नहीं। पुरुष तथा स्त्री, ऊँच तथा नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सबको राज्य की तरफ़ से

अपनी योग्यता के विकास के लिये समान अवसर मिलना चाहिए, उन्नति का एक-जैसा तथा पूरा-पूरा मौक़ा मिलना चाहिए, यही वेद की घोषणा है। वहाँ कहा है—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।"

वेद के अनुसार स्त्री को शिक्षा प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, और उतना ही अधिकार है, जितना पुरुष को। इसके सिवा उसे वे सब दूसरे अधिकार भी प्राप्त हैं, जो पुरुष को हैं। वेद में स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों में कोई भेद नहीं किया गया।

ऋग्वेद (१०।१५९) में तो यहाँ तक कहा है—

"अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्रा विवाचनी।"

अर्थात् मैं समाज को मार्ग दिखानेवाली पताका हूँ, मैं समाज का सिर हूँ, मैं बड़ा अच्छा विवाद करनेवाली वकील हूँ। इसी सूक्त में आगे कहा है—

"यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।"

अर्थात् मैं इन वीरों की रानी हूँ, इस सेना की अभिनेत्री हूँ। एक स्त्री, जो विवाहिता है, अपने विषय में कहती है—

"मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट्।"

(अथर्व० १४।१।४२)

अर्थात् मेरे पुत्र शत्रुओं को मारनेवाले और मेरी लड़की प्रदीप्त ज्योतिवाली हो।

इन मंत्रों में विवाहिता स्त्री के समाज का मूर्धन्य होने, उसके

वकील तथा सेनापति होने का वर्णन पाया जाता है। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि वेद स्त्री के अधिकारों को पूरा-पूरा स्वीकार करता है। परंतु यह अधिकार उसी स्त्री को प्राप्त हैं, जो अपने बाल-बच्चों के प्रति अपने कर्त्तव्य का भले प्रकार पालन कर रही हो, या उसने इस प्रकार की कोई जिम्मेवारी ही अपने ऊपर न ली हो। बाल-बच्चों की देख-रेख खोकर किसी स्त्री को इन कामों में हाथ डालने का अधिकार नहीं है। आज योरप में स्त्रियाँ रोटी का टुकड़ा कमाने के लिये जीवन-संग्राम में जा पड़ी हैं, इससे उनका गृहस्थ-जीवन उजड़ गया है, क्योंकि गृहस्थी का चलाना और रोटी के लिये कशमकश करना दोनो परस्पर विरोधी बातें हैं। वैदिक आदर्श में उसी पुरुष को विवाह करने का अधिकार है, जो विवाह से पहले 'ममेयमस्तु पोष्या' अर्थात् मैं इसका भरण-पोषण करूँगा, इस बात का एलान कर सके, वह एक सभा में खड़ा होकर यह घोषणा कर सके कि वह अपनी पत्नी का और बाल-बच्चों का पालन-पोषण कर सकेगा। शायद योरप में स्त्री को पुरुष का उत्तमार्ध (Better half) इसलिये कहा जाता है, क्योंकि वह बाल-बच्चों की देख-रेख भी करती है, और पुरुष के मुक़ाबले में रोटी भी कमा लाती है। वह खुद ही पुरुष से उत्तम (Better) हो गई। वैदिक आदर्श के अनुसार तो वह अर्धांगिनी (Equal half) है। पुरुष रोटी कमाकर लाता है, और स्त्री बाल-बच्चों की देख-रेख करती है। उन्होंने अपने काम का इस प्रकार बटवारा कर रक्खा है। वैदिक आदर्श के

अनुसार स्त्री-पुरुष में एक दूसरे से अच्छा-बुरा होने का कोई मौक़ा नहीं है। दोनो का क्षेत्र अपना-अपना है। दोनो ने श्रम-विभाग के अनुसार रज़ामंदी से भिन्न-भिन्न क्षेत्र चुन लिए हैं। पुरुष के क्षेत्र में स्त्री दखल नहीं देती, और स्त्री के क्षेत्र में पुरुष चुप रहता है। दोनो अपने-अपने क्षेत्र में काम करें, तो वे दोनो एक दूसरे से बढ़कर हैं।

१०. पत्नी घर की सम्राज्ञी है

हमने देख लिया है कि प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसार स्त्री को घर में क़ैद नहीं किया जाता, वह स्वतंत्र रहती है। उसे पर्दे में क़ैद नहीं रक्खा जाता, वह पुरुषों के साथ भी स्वतंत्रता से मिलती है, और समाज को गंदा करने के बजाय उसे गंदा होने से बचाती है। उसकी नैतिक स्थिति (Moral tone) को ऊँचा बनाए रखती है। हमने यह भी देख लिया कि यदि वह बाल-बच्चों की परवरिश के कर्तव्य को पूरी तरह से निभा रही है, या इस झगड़े में ही नहीं पड़ रही, तो उसे वकालत करने, सेनापति बनने और राज्य करने तक का भी पूरा अधिकार है, परंतु अधिकतर वह इस कशमकश में नहीं पड़ती, यह काम पति के सुपुर्द रहता है। पति तथा पत्नी दोनो अपने-अपने क्षेत्र में राज करते हैं। अब हमें यह देखना है कि पत्नी का अपने घर में किस प्रकार का राज है?

आज हमारे घरों में स्त्री-जाति की स्थिति दासी से बढ़कर नहीं है। लड़के का विवाह होता है, नई बहू घर आती है,

परंतु उसके साथ उसकी सास का बर्ताव ऐसा होता है, जैसा नौकरानी के साथ। विवाह से पहले यदि नौकरानी होती है, तो बहू आने पर यह समझा जाता है कि अब नौकरानी की क्या ज़रूरत है, बहू जो आ गई, वह सारा काम-काज कर लेगी। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि बहू को काम नहीं करना चाहिए, मेरे कथन का इतना ही अभिप्राय है कि बहू पर काम का बोझ उसे नौकरानी समझकर डाला जाता है, घर की ज़िम्मेवार मालकिन समझकर नहीं। सास के हाथों घी का भरा कनस्तर गिर जाय, तो कुछ नहीं, परंतु यदि बहू से एक सुई भी टूट जाय, तो वह उसके सिर हो जाती है। तभी आजकल सास और बहुओं की नहीं बनती। वैदिक आदर्श ऐसा नहीं है। वेद में कहा है—

"यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ;
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।" (अथर्व० १४।१।४३)

जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार पति के घर में तू सम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह। सम्राज्ञी भी कैसी?

"सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युतश्वश्र्वाः॥"(अथर्व०१४।१।४४)

तुझे तेरा श्वशुर घर की महारानी समझे, तेरे देवर तुझे सम्राज्ञी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें, और तेरी सास तुझे घर की महारानी मानें।

वेद घर में यह स्थिति स्त्री को देना चाहता है। माता-पिता

का कर्तव्य है कि जब उनका पुत्र विवाहित हो जाय, तो अपने हाथों से घर का राज अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू को दे दें। अपने पुत्र को वे घर का राजा बनाएँ, और पुत्र-वधू को घर की महारानी। इसके बाद वे उस घर में न रहें, और यदि रहें, तो अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू की प्रजा होकर रहें। सास घर के खजाने की चाबी नई वधू के हाथों में रखकर उसे घर की मालकिन बना दे। इस आदर्श को सुनकर आजकल की सासें शायद चौंक पड़ें और समझें कि इन बातों को सुनकर उनकी बहुएँ बिगड़ जायँगी। मैं एक बुढ़िया को जानती हूँ, जो बेचारी अंधी है, चल-फिर भी ज़्यादा नहीं सकती, परंतु वह हरएक चीज की चाबी अपने पास रखती है। जब उसके पोते पैसा माँगते हैं, तो वह अपने सिरहाने के नीचे से चाबियाँ टटोलकर उन्हें पैसे देती है। वह इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसकी बहू बच्चों को पैसे दे दे। जब कभी बच्चे लड्डू माँगते हैं, तो वह संदूक खोलकर उन्हें लड्डू देने में घंटा-भर लगा देती है, और शरारती लड़के यह देखकर कि दादी देख नहीं सकती, चुपके-से एक-एक लड्डू और उड़ा ले जाते हैं। यह बुढ़िया हमारी सासों का नमूना है, जो घर में बहू का राज नहीं देख सकतीं। सभा-सोसाइटियों में भी ऐसी सासों की कमी नहीं है। मंत्री, प्रधान के पदों को जो लोग जन्म-जन्मांतरों की बपौती जायदाद समझते हैं, और नवयुवकों को आगे नहीं आने देते, वे सोसाइटियों की सासें

हैं। वैदिक आदर्श यह नहीं है। लड़का जब बड़ा हो जाय, तो अपना स्थान उसे दे देना वेद की मर्यादा है। वैदिक मर्यादा तो यह है कि पति-पत्नी अपनी आत्मा को इतना विकसित करें कि जब तक उनके लड़के की शादी हो, तब तक वे मोह के बंधन को घर से निकालकर घर के बाहर फैलाने लगें, परार्थ को स्वार्थ बनाने का पाठ सीखते-सीखते अपने क्षुद्र स्वार्थ से सर्वथा ऊपर उठ जायँ। जिसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके इसमें से निकलना नहीं सीखा, जिसने बंधनों में पड़कर उन्हें काटना नहीं सीखा, वह गृहस्थाश्रम को एक कीचड़ बना लेता है, और स्वयं उसका कीड़ा होकर उसमें रेंगने लगता है। जो पति-पत्नी इस प्रकार गृहस्थाश्रम के कीड़े हैं, वे अपनी बहू के सिर पर अपने ही हाथों से उस साम्राज्य के सेहरे को कैसे बाँध सकते हैं, जो अब तक उनके सिर पर बँधा था। परंतु नहीं, गृहस्थ का वैदिक आदर्श यही है। वैदिक घर में नई बहू शृंगार करके प्रवेश करती है, और उस घर में उसके सास, ससुर, ननदें और देवर उसे घर की रानी समझकर उसके सामने झुकते हैं। यह झुकना उस आदर्श के सामने है, जिस आदर्श का जीवन में क्रियात्मक पाठ सीखने के लिये इस दंपति ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है। अब तक इनके माता-पिता ने इस आश्रम में २५ वर्ष तक अपनी आत्मा के विकास का पाठ सीखा था, स्वार्थ की जड़ों में परार्थ का पानी सींचकर परार्थ को ही स्वार्थ बना दिया था। अब ये नौसिखिए भी उसी क्रम में से

गुजरकर जीवन के लक्ष्य को अपने समीप लाने का प्रयत्न करेंगे।

११. गृहस्थ का आदर्श गृहस्थी छोड़ना है

हमने देख लिया कि विवाह का वैदिक आदर्श क्या है। विवाह खिलवाड़ नहीं है, यह विषय-भोग का साधन नहीं है। वेद पत्नी को संबोधन करके कहता है—

"पत्युरनुव्रता भूत्वा सनह्यस्व अमृताय कम्।" (अथर्व० १४।१।४२)

पति के पीछे चलती हुई अमृत पाने की तैयारी कर! विवाह अमृत पाने की तैयारी के लिये है। इस अमृत को अथर्व वेद के इसी कांड में (६४ मंत्र) एक दूसरे स्थल पर समझाया गया है—

"ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्मपूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ;
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज।"

पत्नी के पीछे ब्रह्म हो, आगे ब्रह्म हो, आख़ीर तक ब्रह्म हो, बीच में ब्रह्म हो, और चारो तरफ़ ब्रह्म हो। इस प्रकार ब्रह्म से घिरी हुई पत्नी पति-लोक में राज्य करे। ब्रह्म का अर्थ है बड़ापन, महानता। यह महानता वही है, जिसका इस अध्याय के प्रारंभ में संकेत किया गया था। हम अब्रह्म हैं, छोटे हैं, बहुत छोटे हैं, स्वार्थ में गड़े हुए हैं, अपने सिवा हमें कुछ नहीं दिखलाई देता। विवाह से पति-पत्नी ब्रह्म की तरफ़ जाते हैं, छोटे से बड़े होते हैं, धीरे-धीरे वे बहुत बड़े हो जाते हैं, स्वार्थ के गढ़े से निकलकर परार्थ के समीप पहुँच जाते हैं, उन्हें अपनापन

भूल जाता है, और अपने सिवा सब कुछ दिखलाई देने लगता है। गृहस्थ, मनुष्य को जीवन के इसी आदर्श की तरफ़ ले जाता है; यदि गृहस्थ मनुष्य को जीवन के इस आदर्श की तरफ़ नहीं ले जाता, तो वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं है, वह इस आश्रम की खिल्ली उड़ाता है। इसीलिये गृहस्थ के जितने आदर्शों का ऊपर वर्णन किया गया है, उन सबमें ऊँचा आदर्श यह है कि गृहस्थ एक ख़ास समय पर आकर, एक ख़ास मंज़िल पर पहुँचकर, ऐसी स्थिति में पहुँचकर कि जब उसने दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाना सीख लिया है, गृहस्थाश्रम से भी ऊपर उठ जाय, इस आश्रम का भी त्याग कर दे। गृहस्थी में प्रवेश गृहस्थी से निकलने के लिये है, उसी में बैठे रहने के लिये नहीं। यह जीवन के उद्देश्य को सफल बनाने के लिये एक साधन है, स्वयं कोई लक्ष्य नहीं। यह एक सराय है, निज का मकान नहीं, गृहस्थी को किसी ऊँचे टीले पर पहुँचना है, रास्ते में ठहरना नहीं। गृहस्थ का यह आदर्श उसके सब आदर्शों का शिरोमणि आदर्श है, क्योंकि यदि गृहस्थ इस बात को नहीं समझा, तो वह कुछ नहीं समझा।

प्राचीन काल में गृहस्थ का यही आदर्श समझा जाता था। उत्तर राम-चरित में एक दृश्य का वर्णन है। राम तथा लक्ष्मण मुनियों के कपड़े पहने हुए हैं, और दोनों इक्ष्वाकु-वंश के प्राचीन राजाओं के चित्र देख रहे हैं। उन चित्रों में इक्ष्वाकु-वंश के सब राजाओं का वानप्रस्थ-आश्रम का चित्र है। इसे देखकर लक्ष्मण कहते हैं—

"पुत्र संक्रान्त लक्ष्मीकैर्यद् वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ;
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ।"

"इक्ष्वाकु-वंश में यह प्रथा थी कि जब वे वृद्ध हो जाते थे, तो लक्ष्मी को पुत्र के हवाले कर दिया करते थे। हे राम ! तुमने तो यह जंगल में विचरने का वानप्रस्थियों का बाना बचपन में ही पहन लिया।" दिलीप ने जब वृद्धावस्था आने के कारण वानप्रस्थ लिया है, तो उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है—

"अथ स विषय व्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे ;
नृपति ककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ;
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।"

"विषयों से अपने मन को खींचकर दिलीप ने यथाविधि राजा के चिह्न को अपने पुत्र रघु के सुपुर्द किया, और स्वयं देवी के साथ जंगलों की छाया में चला गया। वृद्ध इक्ष्वाकुओं का तो यह कुल-व्रत है।" इसी प्रकार जब रघु बूढ़ा हो गया, और उसका लड़का अज विवाह करके घर आया, तो कालिदास कहता है—

"प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ;
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्
न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ।"

"यदि कुल की धुरी, कुल का स्तंभ पुत्र मौजूद हो, और माता-पिता वृद्ध हो जायँ, तो सूर्यवंशी राजाओं में घर में बैठने की प्रथा नहीं है।" इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यंत अपने कुल की परिपाटी का उल्लेख करता हुआ कहता है—

"भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्;
नियतैक पतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम्।"

"जो लोग बड़े-बड़े भवनों में रहा करते हैं, वृद्धावस्था में जाकर वे वृक्षों की जड़ों में अपना आसन जमा लेते हैं।" जिस समय शकुंतला का दुष्यंत से विवाह हुआ है, तब जैसे लड़कियाँ विदाई के समय अपनी मा से पूछती हैं, अब मुझे कब बुलाओगी, वैसे शकुंतला ऋषि कण्व से पूछती है, आप मुझे कब बुलाएँगे? कण्व ऋषि उत्तर देते हैं—

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीं सपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य;
भर्त्रा तदर्पित कुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।"

"देर तक तू राज्य करती-करती जब अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बनकर इस आश्रम में आना।"

प्राचीन काल के वानप्रस्थियों के ये वर्णन हैं। उस समय गृहस्थ २५ साल के बाद घर छोड़कर जंगल में धूनी जा रमाता था। राजा-महाराजा भी बड़ी खुशी से रेशमी कपड़े उतारकर

वृक्षों की छाल पहन लेते थे। भारत के बड़े-बड़े शहरों के इर्द-गिर्द वानप्रस्थियों के आश्रम हुआ करते थे। इन आश्रमों से मनुष्य-समाज के लिये आध्यात्मिकता का पवित्र स्रोत बहा करता था। संसार के नाना प्रकार के झंझटों से थके हुए गृहस्थ-समाज के लिये ये वानप्रस्थियों के आश्रम शांति का उद्भव-स्थान हुआ करते थे। वे गृहस्थियों को उनका आदर्श चिताते रहते थे। आज वह आदर्श सर्वथा लुप्त हो गया है। इसीलिये हमारा सामाजिक जीवन अत्यंत गंदा हो रहा है। जिन लोगों को घर छोड़ वनों में चला जाना चाहिए था, वे सभा-सोसाइटियों के मंत्री, प्रधान बनने के लिये लड़ रहे हैं, पार्टीबंदियों के चक्कर में पड़े हुए हैं, एक दूसरे को नीचा दिखाने में, एक दूसरे को पछाड़ने में और अपने झूठे गौरव को चार दिन तक और क़ायम रखने में दिन-रात षड्यंत्रों में लगे हुए हैं। यदि वैदिक आदर्शों की कोई स्टेट होती, तो इन सबको घर से निकालकर बाहर करती, और सामाजिक जीवन को गंदा होने से बचा लेती। गृहस्थ का आदर्श गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में है, इसमें पड़े रहने में नहीं। महाराज 'रघु' अपने पुत्र 'अज' को सिंहासन पर बैठाकर जंगल में जा बैठे थे, मुनि याज्ञवल्क्य अपनी संपत्ति का बटवारा कर तपोवन में चले गए थे। वह दुनिया से भागकर नहीं गए थे। वह दुनिया से गुज़रकर गए थे, इसके सुख-दुख का अनुभव करके गए थे। इसमें से गुज़रते हुए उन्होंने जीवन के महान् आदर्श को

सीख लिया था, उनका जीवन छोटे क्षेत्र से निकलकर बड़े क्षेत्र में विचरने लगा था ; उनकी आत्मा में स्वार्थ का बीज नष्ट हो चुका था, और परार्थ का बीज जड़ पकड़ रहा था; उन्होंने अपने लिये न मरकर दूसरों के लिये मरना सीख लिया था। ऐसे महात्माओं के सम्मुख जब मृत्यु आती थी, तो उनके चरण चूमने के लिये, न कि उनके सिर पर प्रहार करने के लिये। ऐसा दृश्य फिर से देखने के लिये आज आँखें तरस रही हैं। आज उन प्राचीन तपोवनों से निकलते हुए संदेश की तरफ़ कान लगाकर सुनने की आवश्यकता है।

वेद के आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम को तभी सफल कहा जा सकता है, जब आयु के एक ख़ास भाग में आकर जैसे साँप केंचुली को उतार फेंकता है, वैसे इस आश्रम को भी छोड़ दिया जाय, और अगले आश्रम में प्रवेश किया जाय। 'गृहस्थ का आदर्श' तो 'जीवन के आदर्श' को पूरा करने की शृंखला में एक कड़ी है। विवाह का वैदिक आदर्श तभी सफल कहा जा सकता है, और वहीं तक सफल कहा जा सकता है, जब तक और जहाँ तक वह जीवन के आदर्श को सफल बनाता है। जब गृहस्थ उस आदर्श तक पहुँच जाता है, तब अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है—

"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"

इसी आदर्श का दूसरे शब्दों में वेद ने वर्णन किया है—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

संसार में एकता देखने में जीवन है, भिन्नता देखने में मृत्यु है। गृहस्थ मनुष्य को भिन्नता की तरफ़ से खींचकर एकता की तरफ़, जीवन की तरफ़, अमरता की तरफ़ ले जाता है—बस, यही विवाह का प्राचीन भारतीय आदर्श है, परंतु हमारे समाज की वर्तमान रचना में स्त्री इस आदर्श को, इस ऊँची स्थिति को सदियों से खो बैठी है।

स्त्रियों की स्थिति

किसी मुसलमान भाई के घर जाकर देखिए। यदि पति घर में न हो, तो मजाल है, आप घर में अपने आने का संदेस दे सकें। क्या घर में कोई नहीं? क्या मकान सूना है? क्या किवाड़ों में ताला लगा है? नहीं—दर्वाजे खुले हैं, घर आबाद है, इस वक्त भी कोई अंदर मौजूद है, परंतु आपके लिये घर सूना न होता हुआ भी सूना है, किवाड़ खुले होते हुए भी बंद हैं, आप अपने आने का कोई संदेस नहीं दे सकते! क्या कारण? कारण यही कि घर में जिस तरह मेज़-कुर्सियाँ मकान की शोभा बढ़ा रही हैं, जिस तरह झाड़-फ़ानूस छत से लटकते हुए अलंकार हैं, उसी तरह इस घर में एक जीवित अलंकार है—शायद नया हो, शायद पुराना हो—वह मकानवाले की मिल्कियत है। मालिक-मकान के लिये उसकी स्त्री उसकी संपत्ति है, एक चीज़ है—उन्हीं अर्थों में वह मिल्कियत और चीज़ है, जिन अर्थों में उसकी मेज़ और कुर्सी। वह उसे छिपा-कर रखता है—शायद वह उसके चुराए, खोए या छीने जाने से डरता है—घर के आख़ीरी कमरे के आख़ीरी कोने में गठरी-सी बनकर बैठे रहने का उसे हुक्म मिला हुआ है। एक जगह से दूसरी जगह ले जाते समय उसे अच्छी तरह लपेटा जाता

है ; कोना-कोना, कपड़े से ढाँपा जाता है; खूब पैक करके उसका पार्सल तैयार किया जाता है। स्टेशनों पर सबने देखा होगा। उसे गाड़ी में इसी तरह चढ़ाया जाता है, जिस तरह एक बिस्तर को। यही कारण है कि इस खुले आबाद घर में, घर के मालिक के मौजूद न होते हुए, आप किसी तरह भी नहीं जा सकते। यह आवश्यक नहीं कि इस घर की 'गृहिणी' नव-विवाहिता युवती हो—चाहे वह ८० वर्ष की बूढ़ी ही हो—परंतु वह तो दूसरे की चीज़ है, वह ढकी रहनी चाहिए। इस सारे मकान में माल-असबाब है, उसका मालिक यहाँ नहीं है। मकान में माल-असबाब बहुत कुछ है—मेज़ें हैं, कुर्सियाँ हैं, गलीचे हैं, झाड़-फ़ानूस हैं, मुर्गियाँ हैं, घोड़े हैं, स्त्रियाँ हैं—परंतु जिसके पास आप अपने आने का संदेस दे सकें, ऐसा यहाँ कोई नहीं है।

पुरुष-जाति ने स्त्री-जाति को अपनी जायदाद बना रक्खा है। कहते हैं, स्त्री स्वभाव से ही दबती है—उसमें अपनी इच्छा नहीं होती, वह एक चीज़ है, भोग्य वस्तु है। सैमेटिक लोगों के यही विचार हैं। मुसलमान और यहूदी इसी दृष्टि से स्त्री को देखते आए हैं। यहूदियों की मान्य पुस्तक बाइबिल के पुराने अहदनामे में लिखा है कि खुदा ने मट्टी से गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि को बना दिया—उनमें रूह नहीं फूँकी। स्त्री को भी बनाया, लेकिन उसमें भी रूह नहीं फूँकी। आदम को बनाकर उसमें रूह फूँक दी। इसीलिये पक्के ईसाई-मुसाई और मुहम्मदी पशुओं तथा स्त्रियों में आत्मा नहीं मानते। यदि स्त्री में आत्मा

नहीं, तो वह माल, मत्ता, असबाब नहीं, तो और क्या है? इसी-लिये सैमेटिक-जाति के लोगों की लड़ाइयों में हाथी-घोड़ों की लूट के साथ-साथ स्त्रियों को भी लूटा गया! जिसके पास जितने अधिक हाथी-घोड़े हुए, वही बड़ा—बड़े के पास अधिक स्त्रियों का होना भी ज़रूरी हो गया। बहुविवाह का अधर्म होना तो दूर, वह व्यक्ति के गौरव की परख बन गया। अतिथियों का सत्कार अपनी उत्तम-से-उत्तम वस्तु के साथ किया जाता है। इतिहास की साक्षी है कि अनेक जातियों में अतिथियों का उनकी स्त्रियों पर भी पूरा अधिकार था। स्त्री तो पुरुष का खिलौना है। पुरुष को स्त्री की ज़रूरत पड़ती है—'स्त्री की ज़रूरत'—इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं। पुरुष चाहे तो स्त्री को जी-भरकर पीट सकता है—वह उसकी मिल्कियत जो हुई। पुरुष को स्त्री का मनोवाञ्छित उपयोग करने का पूरा-पूरा अधिकार है—पुरुष स्त्री के साथ जैसा व्यवहार चाहे करे—स्त्री का कर्तव्य है, वह सब कुछ आँखें मूँदकर सहन करे। पुरुष स्त्री के गहने उतारकर बेच सकता है, उनका बुरे-से-बुरा इस्तेमाल कर सकता है। लोग स्त्रियों को बेचते हैं, बड़ी भारी तिजारत होती है। स्त्रियाँ खुद अपने जिस्म को कौड़ी-कौड़ी में बेचती हैं। यह सब कुछ क्यों होता है? क्योंकि स्त्रियों की स्थिति माल-असबाब से बढ़कर नहीं। 'स्वतंत्रता' शब्द का पुरुष ही उच्चारण कर सकता है, 'स्त्री' और 'स्वतंत्रता' इन दोनों शब्दों में कोई साहचर्य नहीं।

अब चलिए किसी योरपियन के घर। यहाँ भी गृह-पति अनुपस्थित है, परंतु कोई फ़िक्र नहीं। पाँव की आहट सुनते ही नवयौवन-संपन्ना गृह-पत्नी शृंगार किए हुए बूटों की टप-टप आवाज़ करती हुई आपके सामने आ खड़ी होती है। 'चलिए, अंदर चलकर बैठिए, चाय पीजिए। आराम कीजिए। गृह-पति के आने तक पुस्तक लेकर पढ़िए !' मुसलमान भाई के घर में ८० वर्ष की वृद्धा माँ आपके सामने आने से हिचकिचाती थी, यहाँ १९ वर्ष की युवती बहुत खुलकर आपसे वार्तालाप करती है। क्यों ?

सेमेटिक-जातियों से योरपियन-जातियाँ उन्नत अवस्था में हैं। उन्होंने अपने समाज में स्त्री को ऊँचा दर्जा दिया है। यहाँ स्त्रियों की स्थिति झाड़-फ़ानूस या गाय-भैंस की-सी नहीं, बल्कि उनसे ऊँची है। स्त्री पुरुष की संपत्ति नहीं—वह स्वतंत्र है। वे स्त्री का बहुत आदर करते हैं। स्त्री का पुरुष पर प्रेम का अधिकार है। भ्रमण करने जाते हैं, तो स्त्री पुरुष से दो क़दम आगे बढ़कर चलती है। बच्चा रोता है, तो स्त्री बच्चे को पुरुष के हवाले कर देती है। योरपियन लोग स्त्री के लिये मा-बाप तक को छोड़ने के लिये तैयार हैं—घर से भागने के लिये उद्यत हैं। पुरुष स्त्रियों के साथ मिलकर नाचते हैं। जो पुरुष जिस स्त्री से और जो स्त्री जिस पुरुष से चाहे प्रेम करे—प्रेम की पूरी आज़ादी है, पूछनेवाला कोई नहीं। शादी होते-होते ही घर से जुदा हो जाते हैं।

सैमेटिक-जातियों ने स्त्री को धन-दौलत समझा, उसे पुरुष की क्रीतदासी समझा, विषय-वासना-तृप्ति का एक साधन समझा—योरपियन-जातियों ने स्त्री के स्त्रीत्व-रूप को देखा, उसे रत्नों से जड़ दिया, अलंकारों से विभूषित कर दिया, अपने जीवन को उसी के चरणों में समर्पित कर दिया, स्त्री में भोग्य बुद्धि को एक दूसरा रूप दे दिया। स्त्री कष्ट सहन करने के लिये उत्पन्न नहीं हुई, वह अध-खिली चमेली की कली है; कष्ट-रूपी पाला लगने से वह मुरझा जायगी। वह दिन-भर कोकिल-कंठ से गाया करे, वसंत की शीतल पवन के झकोरे से हिलते शाल्मली-पत्र की तरह नाचा करे। चंद्रमा समुद्र में ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है—वह भी मानव-मानस में तरंगें उत्पन्न करती रहे। वह हँसती रहे, खेलती रहे, कूदती रहे, नाचती रहे, गाती रहे—योरपियन-जातियाँ इसी से संतुष्ट हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ भी इनके यहाँ शृंगार करती हैं, पाउडर लगाती हैं, दुनिया-भर की नोंक-झोंक करती हैं—अपने स्त्री-भाव को क़ायम रखने के प्रयत्न में लगी रहती हैं।

आइए, अब आपको वैदिक सभ्यता-प्रेमी भारत के किसी प्राचीन घर में ले चलें। हिंदुओं के आजकल के घरों में जाने की ज़रूरत नहीं—आज तो हमने मुसलमानों के सहवास में बहुत कुछ नया सीख लिया और पुराना भुला दिया है। प्राचीन काल के किसी ऐसे भारतीय गृह में प्रवेश कीजिए, जिसमें प्राचीन ऋषियों की जगाई ज्योति का प्रकाश धीमा नहीं पड़ा।

घर क्या है, देव-स्थान है ! 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।' आपके दुर्भाग्य से आपके पहुँचने पर यहाँ भी गृह-पति बाहर गए हुए हैं। आपके आने की सूचना पाते ही एक नवोद्वाहिता षोडशवर्षीया युवती धीरे से कपाट के एक तरफ़ आकर खड़ी हो जाती है। देखते ही समझ में आ जाता है कि इसकी गणना माल-असबाब में नहीं की जा सकती ; और न यह उछलती-कूदती, बित्ता-भर उठी एँड़ी के बूटों को टपटपाती आंग्ल ललना के समान है। यह आपके सामने खड़ी है, परंतु इसकी आँखों में दैवी गंभीरता, नम्रता तथा प्रेम चित्रित हैं। वही सत्कार-सूचक शब्द—'आइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ ?' सारा व्यवहार हृदय में 'मातृत्व-भाव' को उत्पन्न कर देता है—हृदय 'मातृ-शक्ति' के सम्मुख आदर-पूर्वक झुक जाता है !

भारतीय वैदिक आर्यों के हृदय में स्त्री का ऊँचा स्थान था। ईंट, पत्थर, रोड़े, पशु-पक्षी की स्थिति से ऊपर उठकर, 'सखी-भाव' या समानता की स्थिति से भी ऊपर उठकर वह और ऊपर उठती है—वह पुरुष से भी ऊपर की स्थिति में आ जाती है। उसमें आत्मा नहीं है, इस कल्पना की जगह शास्त्रों में स्त्री को 'शक्ति' का रूप दिया गया है। 'स्त्री' एक अद्भुत शक्ति है—'शक्ति' माना है ! आर्य लोग स्त्री में सब भावों की कल्पना करते हुए उसकी 'मातृ-शक्ति' को सदा प्रधानता देते थे। वे स्त्री में शक्ति की पूजा करते थे, क्योंकि शक्ति-शब्द का उच्चारण

करते ही उन्हें दिव्य गुणों का स्मरण हो आता था। उनका ध्येय था—'मातृवत् परदारेषु'। पाश्चात्य लोग इस भाव पर हँसते हैं, क्योंकि उन्होंने स्त्री में 'मातृ-भाव' की कल्पना अभी नहीं की। उनकी स्त्रियाँ बूढ़ी होकर भी अपने 'स्त्री-भाव' को शृंगार आदि द्वारा क़ायम रखने का प्रयत्न करती हैं—यहाँ प्रारंभ से ही तपस्या का पाठ सीखना पड़ता था। वहाँ 'स्त्री-भाव' में अनिच्छित 'मातृ-भाव' आ पड़ता है—यहाँ 'मातृ-भाव' के साक्षात्कार के लिये अनिच्छित 'स्त्री-भाव' की कल्पना करनी होती थी। वहाँ 'स्त्री-भाव' उद्देश्य है—यहाँ वह 'मातृ-भाव' रूपी उद्देश्य के लिये साधन था। यही कारण है कि भारतवर्ष के प्राचीन आर्यों में चचा-भतीजे सब इकट्ठे रहा करते थे, आपस में फटे हुए नहीं रहते थे। घरों में लड़ाइयाँ और बटवारे तभी होते हैं, जब नवयुवकों की आँखों के सामने भोग-विलास के स्वप्न फिरने लगते हैं। 'स्त्री' में 'स्त्री-भाव' देखनेवाला अंधस्वार्थी अपने बल-हीन माता-पिता को छोड़, स्त्री को साथ ले दूर निकल जाता है। स्त्री में 'मातृ-शक्ति' के दर्शन करनेवाले प्राचीन आर्य से यह आशा नहीं की जा सकती थी।

आर्यों की विवाह-पद्धति इस बात को और भी स्पष्ट कर देती है। विवाह हृदय का है—जिनके हृदय मिल गए, उनका विवाह स्वयं हो गया, संस्कार तो उसी के बाह्य स्वरूप को दर्शाने के लिये है। आश्चर्य तथा खेद की क्या इससे बढ़कर कोई सीमा हो सकती है कि जिन्हें सारी उम्र सुख-दुःख में साथ बितानी है,

उनकी कोई सलाह न ले, और माता-पिता ही अपनी संतानों के भाग्यों का सदा के लिये निपटारा कर दें। जिनके भाग्य का फ़ैसला करने चले हो, उनकी सलाह बिलकुल नहीं—जिनका कोई सरोकार नहीं, वे मग़ज़-पच्ची करें! विवाह करने या न करने में संतान की सलाह न लेकर अपनी इच्छा प्रधान रखनेवाले माता-पिता धांगा-धांगी करते हैं, ज़बरदस्ती करते हैं, अनधिकार-चेष्टा करते हैं। यह प्रथा आर्यों में नहीं थी। आर्यों की विवाह-पद्धति अद्वितीय थी, उनमें 'स्वयंवर' से विवाह हुआ करता था। 'स्वयंवर' का अर्थ है—'अपने आप वरना'। योरप में प्रचलित स्वच्छंद प्रेम (Free-love) की प्रथा को स्वयंवर कहना भूल है। स्वच्छंद प्रेम में लड़का-लड़की आज़ाद रहते हैं, उन पर निगरान रखनेवाला कोई नहीं होता। स्वच्छंद-प्रेम का प्रारंभ ही इस प्रकार होता है। पहले-पहल उसे छिपाया जाता है। जिस लड़के-लड़की का प्रेम हो, वे उसे गुप्त रखने की प्राण-पण से चेष्टा करते हैं। 'स्वयंवर' में यह भाव क़तई नहीं। लड़के-लड़की का प्रेम है, वे उसे छिपाते नहीं। उनका हृदय-पट उनके माता-पिता के सामने खुला पड़ा है, माता-पिता से कुछ छिपाया नहीं जाता। स्वच्छंद प्रेम में सारी कार्रवाई—शुरू से आख़ीर तक—माता-पिता से छिपाई जाती है; स्वयंवर में सब कुछ माता-पिता के सम्मुख किया जाता है, उनके अनुभवों से लाभ उठाया जाता है। इस भेद का आधारभूत कारण यही है कि योरप के स्वच्छंद प्रेम में स्त्री के 'स्त्री-भाव' को प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता

है; भारत की स्वयंवर-प्रथा में स्त्री के 'मातृ-भाव' को लक्ष्य में रखकर, स्वयंवर को एक पवित्र कार्य समझा जाता था। पश्चिम में स्वच्छंद प्रेम नवयुवकों को गढ़े में गिराता है—यहाँ वह हाल नहीं। स्वच्छंद प्रेम की प्रथा यहाँ भी थी, परंतु यहाँ के स्वच्छंद प्रेम—स्वयंवर—का परिणाम तलाक़ (Divorce) नहीं था। यहाँ के स्वच्छंद प्रेम का आधार स्त्री का 'स्त्री-भाव' नहीं, अपितु 'स्त्री-भाव' में छिपा हुआ 'मातृ-भाव' था। यही कारण है कि योरप को स्वच्छंद प्रेम की प्रथा ने तबाह कर दिया—भारत को स्वयंवर-प्रथा ने पुरातन सभ्यताभिमानी देशों का मूर्धन्य बना दिया। इसी उच्च आदर्श के कारण 'स्वयंवर'-प्रथा में यद्यपि स्वच्छंद प्रेम से होनेवाले सब फ़ायदे मौजूद थे, तथापि उसका पागलपन और अंधापन नहीं था। स्त्री की 'मातृ-शक्ति' को समझा जाता था, अतः माता-पिता अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अपनी संतान के हृदय को स्वतंत्रता भी देते थे, और उसके प्रत्येक कार्य को अपनी आँख के सामने भी रखते थे।

'मातृ-शक्ति' के भाव को कितनी दूर तक पहुँचाया गया था। 'जाया'-शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि लोग कहते हैं—'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः'। स्त्री को 'जाया' क्यों कहते हैं?—क्योंकि पुरुष स्वयं इसके गर्भ से इसका पुत्र बनकर फिर से पैदा होता है। अपनी ही स्त्री को स्वयं उसकी संतान बनकर 'मा' कहने लगता है। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने इस उच्च भाव को इस परा काष्ठा तक पहुँचाया

था। स्त्री को पवित्र क्यों रक्खें? क्योंकि वह अपने उत्पन्न होने के लिये ही तो क्षेत्र है। बीज बुरे क्षेत्र में पड़कर बुरा उत्पन्न होगा। मनुष्य बीज बनकर अपनी स्त्री के क्षेत्र में उत्पन्न होता है—वह अपने क्षेत्र को मलिन क्यों होने दे? पुत्र के लिये कहा है—'आत्मा वै पुत्र नामासि'—पुत्र अपना 'आत्मा' है। पुत्र का 'मा' कहकर पुकारना तुम्हारा ही तो 'मा' कहकर पुकारना है, क्योंकि पुत्र तुम्हारा ही तो एक नया संस्करण (Edition) है। तुम—'एकोऽहं बहुस्याम्'—अपनी एकता को अनेकता में लाते हुए स्त्री की 'मातृ-शक्ति' का आश्रय लेते हो। जब तुम एक रूप में थे, पति के रूप में थे, तब 'स्त्री' को 'स्त्री' कहकर पुकारते थे। एक मुख से 'स्त्री' उच्चारण करने का बदला चुकाने के लिये पुरुष को अनेक संतानों के रूप में आना पड़ता है, ताकि वह अनेक मुखों से उसी स्त्री को 'मा' कहकर पुकार सके। तभी तो संतान-हीन होना शास्त्रों में पापों का फल समझा गया है। संतान-हीन पुरुष अपनी 'स्त्री' को 'माता' कहकर नहीं पुकार सकता, इससे बढ़कर और क्या पाप-फल हो सकता है—'स्त्री-शक्ति' में 'मातृ-शक्ति' के दर्शन करने से उसे वंचित रक्खा जाता है। पुत्र-शब्द की व्युत्पत्ति इसी भाव पर प्रकाश डालती है। 'पुं नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः'—नरक से पार करनेवाला पुत्र है। श्राद्ध करके पुत्र अपने माता-पिता को नरक से पार नहीं कर सकता। अपनी ही स्त्री में पुरुष फिर से

उत्पन्न होकर 'स्त्री-भाव' में 'मातृ-भाव' का साक्षात् दर्शन करता है, बस, यही माता-पिता का नरक से पार हो जाना है। 'स्त्री-भाव' का अंत तक वैसा ही बना रहना नरक है, उसका 'मातृ-भाव' में परिवर्तित हो जाना नरक से तर जाना है।

योरपियन-जातियों के स्त्री के प्रति संबोधन इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। पीयर्सन की स्त्री को संबोधन करते समय उसे मिसेज़ पीयर्सन कहेंगे। मिसेज़ पीयर्सन का अर्थ है—'पीयर्सन की स्त्री'। मिसेज़ पीयर्सन कहते हुए उन्होंने 'स्त्री' में 'स्त्री-भाव' को ही प्रधानता दी है। उस भाव का पीयर्सन के साथ ही संबंध है, यह बात स्वीकार करते हुए भी उसमें 'मातृ-भाव' कल्पित करने का विचार उनके दिमाग़ों में आ तक नहीं सकता। है वह स्त्री ही—हाँ, 'वह पीयर्सन की स्त्री है'—इसे वे स्वीकार करते हैं। भारतीय आर्य-परिवारों में ऐसे संबोधन नहीं सुन पड़ते थे। 'मिसेज़ पीयर्सन को बुला लाओ' का यही अर्थ है कि 'पीयर्सन की स्त्री को बुला लाओ'। आर्य-परिवारों में कहते थे और अब भी कहते हैं—'मुन्नी की मा को बुला लाओ'। पीयर्सन के चाहे दस संतान भी क्यों न हों, उसकी स्त्री उसकी स्त्री ही है; लालाजी के तो एक ही संतान है, परंतु उनकी स्त्री 'मुन्नी की मा' है। 'स्त्री की स्थिति' का कितना उच्च आदर्श है? यहाँ बालिका को 'अपनी लड़की' समझा जाता था, समवयस्क कन्या को 'अपनी बहन' और

अपने से बड़ी को 'अपनी माता' समझा जाता था। यहाँ के संबोधन थे—'बेटी', 'बहनजी', 'माताजी'।

जिस प्रकार प्रचलित संबोधन स्त्री की स्थिति को बहुत कुछ प्रकट करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के प्रचलित नाम भी उसकी स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। बहुत-सी जातियों में स्त्रियों के नाम 'तोता', 'मैना' आदि जानदार तथा 'गंगा', 'जमुना', 'सांकरी' आदि बेजानदार चीजों के पाए जाते हैं। योरपियन जातियाँ स्त्रियों के लिये फूलों और तितलियों के नाम पसंद करती हैं—उनकी स्त्री के प्रति यही भावना है। आर्य नाम इस प्रकार के नहीं होते थे। स्त्री के नाम के साथ 'देवी' सम्बोधन किया जाता था। स्त्री में दिव्य भाव की कल्पना, शक्ति की उपासना आर्यों को छोड़ अन्य किसी में नहीं पाई जाती।

सैमेटिक, योरपियन तथा आर्य—इन तीन जातियों में 'स्त्री की स्थिति' पर विचार प्रकट करते हुए हमने उन जातियों में फैले हुए मुख्यतया प्रचलित भावों को ही सम्मुख रक्खा है। मुसलमानों में कई लोग पाश्चात्य विचारों के हो सकते हैं, पाश्चात्यों में भी अनेक भारतीय आर्य विचारों के पाए जा सकते हैं। स्त्री-जाति की ये तीन—निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम—स्थितियाँ हैं, उसे इन तीन दृष्टियों से देखा गया है।

वर्त्तमान भारत अपने पुरातन आदर्श से बहुत नीचे गिर चुका है। पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा धरा है—क्रिया में सब कुछ लुप्त हो चुका है। मुसलमानों के भारत पर आक्र-

मण हुए। हमारे कुछ भाइयों ने स्त्री की स्थिति वही बना दी, जो मुसल्मान लोग समझते थे। योरपियन जातियाँ यहाँ आईं। हम लोग स्त्री की स्थिति उन्हीं के आदर्श के अनुसार बनाने में जुट गए। इस समय भारत की अशिक्षित स्त्रियों की अवस्था माल-असबाब की तरह की है—इनी-गिनी शिक्षित स्त्रियों की अवस्था पतली, दुबली, नाज़ुक, हवा के एक झकोरे में उड़ जानेवाली तितलियों की तरह की हैं। पढ़ी-लिखी होती हुई भारतीय आदर्श को उज्ज्वल करनेवाली बहन हज़ारों में ढूँढ़ने से एक भी मिल जाय, तो ग़नीमत है।

आभूषण

अनेक स्त्रियाँ मानो जेवरों के लिये जन्मती हैं। शौक़ इतना बढ़ गया है कि कई स्त्रियाँ अपने वज़न से भी भारी ज़ेवर अपने कोमल शरीर पर लाद लेती हैं। जो देवियाँ अपने एक साल के बच्चे के बोझ से दबी जाती हैं, वही धाड़ियों सोने-चाँदी को फूल की तरह हल्का समझती हैं। हमारी बहनें, सोने-चाँदी की ईंटों को, जिनकी शक्ल ईंटों की-सी नहीं होती, दुनिया को दिखला-दिखलाकर ढोने में अपनी इज़्ज़त समझती हैं। कइयों का कहना है कि जेवर से शरीर की शोभा बढ़ती है। मैं इस बात से इनकार नहीं करती। पर हमारी हज़ारों बहनें जिस उत्सुकता से जेवरों पर पागल हैं, जिस प्रकार वे जेवरों के लिये अपने पति तक की नाक में दम किए रहती हैं, जिस-जिस तरह के टेढ़े-मेढ़े, बेडौल और बेढंगे जेवर पहनती हैं, इन सबको देखकर तो यही समझ पड़ता है कि अभी जेवरों को शरीर की शोभा के लिये पहनने-वाली बहनें बहुत थोड़ी हैं। जेवर पहननेवाली बहनों में से अधिक संख्या उनकी है, जो आभूषणों को इसलिये पहनती हैं क्योंकि बहुत दिनों से उनके पहनने का रिवाज चला आया है, क्योंकि ज़्यादा जेवर पहननेवाली को सब डाह की नज़रों से देखती हैं, क्योंकि जेवर का इज़्ज़त से कोई ख़ास संबंध माना जाता है।

ज़ेवर से शरीर की शोभा बढ़ती है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इसी दृष्टि से ज़ेवर पहनना शुरू हुआ। सच तो यह है कि इस बात को अब तक भी पूरी तौर से अनुभव नहीं किया गया। ज्यों-ज्यों मनुष्य में 'सौंदर्य-प्रेम' की भावना विकसित होती जा रही है, त्यों-त्यों आभूषणों को भी वास्तविक अर्थों में शरीर का आभूषण बनाने की ओर क़दम बढ़ाया जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आभूषणों का इतिहास अभी विकास-क्रम में से गुज़रना शुरू हुआ है, क्योंकि इनके विषय में हम जो कुछ जानते हैं, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका प्रारंभ शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिये नहीं, अपितु किसी और ही कारण से हुआ होगा। धीरे-धीरे समय आ गया है, जब कि आभूषणों का उद्देश्य मुख्यतः शृंगार ही समझा जाने लगा है, परंतु अभी वह समय भी आनेवाला है, जब इसी दृष्टि को सामने रखकर आभूषणों की संख्या, आकृति, रंग, रूप तथा परिमाण में भी परिवर्तन कर दिया जायगा।

ज़ेवरों का पहनना शुरू क्यों हुआ, इस विषय में भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ मिलती हैं। कई लोग तो सौंदर्य-प्रेम को ही आभूषणों की उत्पत्ति का कारण समझते हैं। परंतु जैसा लिखा जा चुका है 'आभूषण'-शब्द का अर्थ तो खूबसूरती है, परंतु उनके पहनने और उनकी बनावट में खूबसूरती लाने की इतनी गुंजाइश है कि उसे देखते हुए यह समझ में ही नहीं आता कि ऐसी बेढंगी चीज़ों से किसके

शरीर की शोभा बढ़ती होगी! यह देखते हुए कइयों का कहना है कि आभूषणों का पहनना किसी और ही कारण से शुरू हुआ होगा, परंतु सौंदर्य का उपासक मनुष्य उन्हें भी सुंदर बनाने की धुन में है।

विकासवाद के पंडित हर्बर्ट स्पेंसर ने आभूषणों की उत्पत्ति पर लिखते हुए बहुत मनोरंजक विचार किया है। उनका कहना है कि पुरुष के आभूषणों की उत्पत्ति उसकी जंगली हालत या उसके शिकारीपन से हुई है। पहले पहल वह जंगल में रहता था और शिकार से अपना निर्वाह करता था। जिन पशुओं को वह मारता था, उनकी खाल पहन लेता था। उनके दाँत, पंजे, सांग गले में डालकर टाँग लेता अथवा सिर में जड़ लेता था। इन वस्तुओं से वह दूसरों पर रोब जमाता था, क्योंकि इन्हें देख-कर ही सब उसकी वीरता के क़ायल हो जाते थे। पशुओं को मारकर उनके शरीर का कोई भाग वह अपने साथ निशानी के तौर पर रखता था, क्योंकि उससे उसकी वीरता का परिचय मिलता था। शोशोन-जाति में रीछ के पंजों और नाखूनों को वही धारण कर सकता है, जिसने उसे मारा हो, यह उसके गौरव का चिह्न समझा जाता है। मानटन-जाति का मुखिया अपने गौरव को दिखाने के लिये भैंस का सींग अपने सिर पर लगाता है। जंगली लोग जिस पशु को मारते हैं, उसकी चमड़ी सिर पर लगा लेते हैं, जिससे आगे चलकर शिरस्त्राण का काम भी लिया जाने लगता है। शिर पर पशुओं के निशान धारण

करने की प्रथा ही विकसित होती हुई पहले शिरस्त्राण और फिर मुकुट का रूप धारण कर गई है, इसलिये प्रायः मुकुटों का रूप या तो पशुओं के सिर के समान होता है, या उस पर किसी पशु का चित्र रहता है। जिस पुरुष ने जिस पशु को मारा हो, उसके चिह्न को वह सदा अपने पास रखता है। युद्धों में उस चिह्न को दिखा सकने के लिये उसे झंडे पर लगा दिया जाता है। धीरे-धीरे जो व्यक्ति किसी समाज का मुखिया हो जाता है, उसके पशु का चिह्न भी उसी समाज का मुख्य चिह्न हो जाता है, और उसी से समयांतर में जातीय झंडे की कल्पना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि झंडा एक चिह्न-मात्र है। ज़ुलु लोग चीते की खाल को पहनने और उसी पर बैठने में अपना गौरव समझते हैं। इसी भाव का विकास होते-होते अब राजसिंहासनों के दोनो तरफ़ शेरों के तथा किन्हीं अन्य हिंसक पशुओं के चिह्न पाए जाते हैं। विकासवादी अपने विचारों की शृंखला में यहाँ तक पहुँच जाते हैं कि वे कपड़ों का पहनना भी मनुष्य के शिकारीपन की निशानी समझते हैं। आख़िर,कपड़े भी तो आभूषण ही हैं, और आभूषण उसकी शिकारी हालत की सफल-विजयों के चिह्न हैं। जंगली लोग जिस जानवर को मारते थे, उसकी चमड़ी से शरीर को ढाँप लिया करते थे। यही कारण है कि अब भी सभ्य समाज में भिन्न-भिन्न जानवरों की खाल के कोट, कंबल आदि पहनने में विशेष गौरव अनुभव किया जाता है, और जानवरों की चमड़ी के रंग के

कपड़े भी तैयार किए जाते हैं। जिस समय तक रुई तथा धातु का प्रयोग होना शुरू नहीं हुआ था, तब तक तो जिन जानवरों को मारा जाता था, उन्हीं की खाल, उन्हीं के दाँत, पंजे, सींग आदि धारण किए जाते थे। परंतु ज्यों-ज्यों मनुष्य ने रुई और धातु का उपयोग करना सीखा, त्यों-त्यों उसकी विजय की निशानियों ने वस्त्र, मुकुट, पताका, जातीय झंडा और सिंहासन का रूप धारण कर लिया।

मनुष्य जहाँ शिकार करता था, वहाँ साथ-ही-साथ समय-समय पर अपने दुश्मनों से लड़ाइयाँ भी लड़ता था। शिकार करने पर मरे हुए पशु का दाँत, सींग या पंजा उसे मिल जाता था, परंतु अपने-जैसे लोगों के साथ युद्ध में उसे शत्रु के घर भाग जाने पर उसके अस्त्र-शस्त्र मिल जाते थे। शत्रु के पराजित होने पर उससे छोड़ी हुई किसी भी वस्तु को विजयी समाज बड़े गौरव से अपने पास रखता था, और पराजितों के मुखिया के अस्त्र-शस्त्र को विजितों का मुखिया बड़ी शान से धारण किया करता था। चिमिमेक-जाति के लोग पराजित शत्रुओं के सिर की चमड़ी इस प्रकार उचेल लेते थे कि वह उनके सिर पर ठीक बैठ जाती थी। जब तक वह सड़ न जाती थी, तब तक वे उसे नहीं उतारते थे। पुरुषों में तलवार आदि शस्त्रों का धारण करना इसी प्रकार चला होगा। कई जातियों में तलवार तथा भाला केवल मुखिया ही धारण कर सकता है। आजकल राजा लोग राजदंड धारण करते हैं, यह भाले का ही छोटा रूप

है। पहले कहा जा चुका है कि पताका की प्रथा हिंसक पशुओं के संहार से चली, परंतु कइयों का कथन है कि पताका भाले का ही संक्षिप्त रूप है। पराजित मुखिया का भाला जब विजित मुखिया के हाथ में आ जाता होगा, तब वह सदा उसे अपने पास रखता होगा। वही विजय-चिह्न पताका के रूप में अब तक चला आता है। अब भी देखा जाता है कि पैरुवियन-जाति के लोग अपने भालों को रंग-बिरंगे पंखों से सजाते हैं, और युद्ध के समय एक दूसरे को पहचानने का उन्हीं से काम चलता है। मनुष्य के वस्त्र, आभूषण, अलंकार, सजावट के सामान—सब उसकी जंगली, शिकारी हालत को सूचित करते हैं। प्रारंभ से अंत तक ये आभूषण उसके पशुओं तथा शत्रुओं के साथ युद्धों में प्राप्त विजयों के ही चिह्न हैं। इस चिह्नों को रुई तथा धातु के इस युग में वस्त्रों, आभूषणों तथा अलंकारों का रूप दे दिया गया है।

जहाँ पुरुषों के आभूषणों में हम उसकी विजय के चिह्न पाते हैं, वहाँ स्त्रियों के आभूषणों में पुरुष के द्वारा स्त्री की पराजय के चिह्न स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष ने पशुओं को मारा, शत्रुओं से दंगल लड़े—उन विजयों के चिह्न उसके आभूषण हैं। पुरुष ने स्त्री को क़ाबू किया, उसे क़ैद रक्खा—और उसकी पराजय के चिह्न सदा के लिये उसके साथ बाँध दिए; वही दासता के चिह्न स्त्री के आज आभूषण समझे जाते हैं, और स्त्रियाँ दासता के इन चिह्नों को बड़ी खुशी से धारण करती हैं।

महाशय एम्० लेनन अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव मैरेज' में लिखते हैं कि जंगली-समाज में घर बैठाकर तो कोई किसी को पालता न था, प्रत्येक को अपने परिश्रम पर अवलंबित रहना होता था, और क्योंकि स्त्रियाँ निर्बल होने के कारण परिश्रम नहीं कर सकती थीं, इसलिये उन्हें पैदा होते ही मार दिया जाता था। अब भी स्त्रियों के पालन-पोषण से बचने के लिये अनेक माता-पिता पत्थर का हृदय कर लड़कियों को पैदा होते ही यमद्वार पहुँचा देते हैं। इस प्रकार जब ज़ंगलियों के गिरोहों में स्त्रियों की संख्या कम होने लगी, तो वे अपनी नज़दीकी रिश्तेदारी की लड़कियों से भी शादी करने लगे, और मौक़ा पाकर दूसरे गिरोहों से स्त्रियों को डाका मारकर उठा लाने लगे। स्पेंसर महोदय का कहना है कि सफल-युद्ध का अवश्यंभावी परिणाम स्त्रियों की लूट हुआ करता था। उन लोगों में स्त्रियों की स्थिति उच्च न थी, इसलिये स्त्री को जंगम-संपत्ति समझा जाता था। जिसका दाँव चलता, उसे उड़ा लेता था। इस प्रकार लूट-खसोट से पकड़ी हुई स्त्रियों को क़ाबू में रखने के लिये उन्हें बाँधकर रक्खा जाता था, और तभी से स्त्रियों के साथ दासता के कुटिल भावों का प्रारंभ हुआ। तब से लेकर स्त्रियों को इतने घुटे हुए वायु-मंडल में रक्खा गया कि पीछे चलकर दासता ही उनके लिये स्वाभाविक हो गई, और वे उसे स्वतंत्रता से भी बढ़कर चाहने लगीं! स्त्रियों की दासता का भाव यहाँ तक बढ़ा कि कई जातियों में विवाह का अर्थ स्त्री को ज़बरदस्ती पकड़कर अपनी दासी बना लेना हो गया।

जब कोई लड़की विवाह के लिये उत्सुक भी होती, उसके लिये भी कम-से-कम युद्ध का नाटक करना ही आवश्यक समझा गया। 'स्त्री युद्ध में जीती हुई संपत्ति है'—इसी भाव से प्रेरित होकर विवाह-विषयक बहुत-से लज्जा-जनक घृणित रीति-रिवाज अब भी चले हुए हैं। वर्क हार्ट महोदय अरब की सिनाई स्त्रियों के विषय में लिखते हैं कि "वे अपने प्रेमी के लिये कितनी ही उत्सुक क्यों न हों, उन्हें उनके साथ लड़ना ही होता है, वे उसे पत्थर मारकर दूर करने की कोशिश करती हैं।" पिंग्राहिट महोदय मूज़ों स्त्रियों के विषय में कहते हैं कि "सगाई हो जाने के बाद वर वधू के घर में आकर तीन दिन तक उसे अपनी ओर खींचने की कोशिश करता था, परंतु वह उसे लाठी और मुक्के मारकर दूर भगाती थी, और चौथे दिन उसकी रोटी पकाकर उसके साथ शादी कर लेती थी। मापुचास लोगों में शादी के समय लड़की के रिश्ते की स्त्रियाँ डंडे और पत्थर लेकर उसकी रक्षा करती हैं, और लड़की चाहे कितनी ही इच्छुक क्यों न हो, उसे अनिच्छा ही दिखानी होती है।" पहले स्त्रियों को लूटा जाता था, और जब लूटने की ज़रूरत न रही, तब भी ऐसे रीति-रिवाज बाक़ी रह गए, जिनका अभिप्राय यही रहा कि वह युद्ध में जीती हुई चीज़ है।

दासता का यह भाव सीमा तक पहुँच गया, जब कि मालिक के मरने पर उसकी दासियों तथा स्त्रियों को मारा जाने लगा। वीरापाब के इंडियनों में जब कोई बड़ा आदमी मरने लगता

था, तब उसकी दासियों को पहले ही मार देते थे, ताकि वे उस लोक में अपने स्वामी के लिये स्थान तैयार करें। प्राचीन काल में दासता का बोझ स्त्री-जाति पर ही था, और इस दासता के वातावरण में रहते-रहते उसकी यह अवस्था हो गई थी कि वह इसे अपने लिये स्वाभाविक समझने लगी थी। यन्का-जाति का एक मुखिया जब मरने लगा, तो उसकी स्त्रियों ने उससे पहले मरने के लिये बहुत कोशिश की। इस प्रकार मरनेवालों की संख्या इतनी थी कि अफ़सर को आज्ञा देकर दूसरी स्त्रियों का मरना रोकना पड़ा। जिन्हें मरने की आज्ञा मिल चुकी थी, उन्होंने जब क़ब्र बनने में कुछ देर देखी, तो स्वयं बालों से लटक-लटककर मर गईं। चिबचा लोगों के विषय में साइमन महोदय का कथन है कि उनमें भी मालिक के साथ जो स्त्रियाँ गड़ना चाहती थीं उन्हें ज़िंदा ही गाड़ दिया जाता था, और वे दबकर दम घुटने से मरती थीं। कोंगो का राजा जब मरा, तब उसकी दर्जन के लगभग युवती स्त्रियाँ उसी के साथ क़ब्र में कूद पड़ीं, ताकि अगले संसार में भी उसकी दासता करें। ये स्त्रियाँ अपने मालिक की सेवा के लिये इतनी उत्सुक थीं कि कौन पहले मरे, इसी बात की कशमकश में उनमें से कइयों ने एक दूसरे को मार डाला। अब निस्संदेह स्त्रियों में से दासता का भाव निकलता जा रहा है, परंतु अब भी पुराने भाव अधिकांश में बने हुए हैं, और स्त्री-जाति में पूर्ण स्वतंत्रता के भाव विकसित होने में शताब्दियों

की देर है। दासता उनकी रग-रग में भरी हुई है। वे सहस्रों वर्षों से उसी में पाली-पोसी गई हैं। स्त्री जाति का पिछला इतिहास उसकी पुरुष के प्रति जघन्य दासता का लज्जा-जनक इतिहास है, जो कि मानव-जाति के मस्तिष्क पर कलंक के तौर से अब भी बना हुआ है।

स्त्रियों के आभूषण इसी दासता के चिह्न हैं। प्राचीन काल में दासों के कान, नाक छेदकर, उनमें छल्ले डालकर, उन्हें रस्सियों से बाँध-कर जहाँ ले जाना होता था, ले जाते थे। असिरियन शिल्प को देखने से पता चलता है कि युद्ध में पकड़े हुए क़ैदियों की नाक में छेद करके, उसमें छल्ला डालकर क़ैदी को रस्सी से बाँध देते थे। जब दासियों अथवा दासों को युद्ध में जीतकर लाया जाता था (जैसा पहले लिखा जा चुका है), उस समय दासता स्त्रियों तक ही सीमित थी, तब उनके हाथों में, पैरों में, गले में, कमर में रस्सी बाँध दी जाती थी, नाक और कान में छेद कर दिए जाते थे, और इस भय से कि वे भाग न जावें, उन्हें बाँधकर रक्खा जाता था। आजकल भी क़ैदी के हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ और कमर में रस्सी बाँध देते हैं, ताकि वह भाग न सके। आगे चलकर वे स्त्रियाँ स्वयं क़ाबू में आ जाती थीं, वे अपना भाग्य दासता में काटना निश्चित समझती थीं, भागने की कशमकश करना छोड़ देती थीं। बाल-बच्चे हो जाने पर तो उनके भाग्य का अंतिम निर्णय ही हो जाता था, क्योंकि जहाँ रस्सियाँ आदि के बंधन उन्हें नहीं भागने देते थे, वहाँ

अब बच्चों से प्रेम का बंधन उन्हें जकड़ लेता था। ऐसी अवस्था में रस्सी आदि से बाँध रखने की आवश्यकता न रहती थी। परंतु फिर भी पुरुष का अविश्वास स्त्री को स्वतंत्र विचरने न देता था। स्त्रियों में लोभ की अथवा संग्रह की प्रवृत्ति स्वभावतः होती थी। थिलिंकीट-जाति के लोग लोहे की चीज़ों और मनकों को इतना चाहते हैं कि अपने बच्चे दे-देकर उन्हें मोल लेते हैं। इसी लोभ की प्रवृत्ति का फ़ायदा उठाकर स्त्रियों के बंधन बहुमूल्य बनाए जाने लगे। हाथों में रस्सी बाँधने के स्थान पर लोहे का कड़ा डालकर उसे रस्सी से बाँधा जाने लगा। उससे जहाँ स्त्री लोभ-वश बंधन के लिये तैयार हो गई, वहाँ पुरुष का काम भी सहज हो गया। धीरे-धीरे बाँध रखने की आवश्यकता जाती रही, परंतु क्योंकि अब बंधन बहुमूल्य वस्तु बन चुके थे, इसीलिये स्त्रियों ने उन्हें उतारना न चाहा। उनमें परिष्कार होने लगा। परिष्कार होते-होते अब समय आ चुका है, जब हाथ की हथकड़ियाँ सोने के 'कड़ों' का रूप धारण कर चुकी हैं, पैरों की बेड़ियाँ 'पटरियाँ' कहाती हैं, जो कि कभी-कभी तो इतनी भारी होती हैं कि अब भी उनसे चलना कठिन हो जाता है। गले की रस्सी 'ज़ंजीर' कहलाती है, जो कि बड़ा अच्छा ज़ेवर समझा जाता है। इसी रस्सी के 'गुलूबंद', 'हार' आदि दूसरे ज़ेवर बन गए हैं, जो कि स्त्री-जाति की क़ैद की निशानियाँ हैं! कमर की रस्सी को 'तगड़ी' कहने लगे हैं, कानों के छल्ले 'बालियाँ' कहाती हैं, और नाकों के छल्ले 'पोला'

और 'नथ' का रूप धारण कर चुके हैं। इस समय ये ज़ेवर बहुत सुंदर लगते हैं, और संभव है, इनमें और भी उन्नति हो, परंतु ये सब स्त्री-जाति की प्राथमिक दासता के चिह्न हैं। इनमें से कई ज़ेवर तो विकसित होते-होते ज़ेवर कहलाने के लायक़ हो गए हैं, परंतु कई तो स्त्रियों के क़ैद की निशानियाँ ही नहीं, क़ैद के कारण बने हुए हैं। उनके कारण वे हिल-जुल ही नहीं सकतीं। डेरा गाज़ीख़ाँ तथा उधर ही के पठानों की स्त्रियों के कानों में सहस्रों छेद रहते हैं, और हरएक छेद में एक-एक चाँदी का छल्ला होता है। उनका कान अक्सर उन छेदों के कारण पका रहता है, और सारा-का-सारा छलनी हो जाता है। राजस्थान की स्त्रियाँ सारे हाथ में हाथी दाँत की चूड़ियों को इस तरह भर लेती हैं कि हाथ हिलाना मुश्किल हो जाता है। यही हालत उनके पैरों की रहती है। जिन स्त्रियों के लिये अपना बोझ उठाना ही मुश्किल होता है, वे भी पैरों को लादे रहती हैं। घर की बूढ़ियाँ कहती हैं कि बहू के घुँघुरू बहुत सुंदर बजते हैं, परंतु उन्हें क्या मालूम कि बहू कितने बोझों से लदी हुई है! बहू क्या है, बच्ची है, जो झम-झम पर ही रीझ जाती है। उसकी मनोवृत्ति भी इसी प्रकार की हो जाती है। वह सचमुच इसमें आनंद का अनुभव करती है। इस प्रकार के अन्य भी बहुत-से ज़ेवर हैं, जो आज भी शरीर को अलंकृत करने के स्थान पर विकृत ही करते हैं, और जो जिस घृणित उद्देश्य से चले थे, उसी उद्देश्य की अब भी उद्घोषणा कर रहे हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि पुरुषों के जेवर उनके हिंसक पशुओं को मारने तथा युद्धों में विजय प्राप्त करने के गौरव-युक्त चिह्न हैं। स्त्रियों के जेवर उनकी दासता की निशानियाँ हैं। इन दासता के चिह्नों पर भी पुरुषों ने अपनी विजय के निशान छोड़ दिए हैं। जेवरों में भी जानवरों की—हाथी, शेर आदि की—शक्लें देखी जाती हैं। इन शक्लों के अतिरिक्त पुरुषों ने जिन पशुओं को मारा, उनके जिस्म की निशानियाँ जहाँ अपने पास रक्खीं, वहाँ स्त्रियों को भी दीं। इसीलिये स्त्रियाँ हाथी के दाँत, शेर के पंजे तथा बाल आदि के आभूषण पहनने में अपना गौरव समझती हैं। पुरुषों के जेवर जो स्त्रियों के पास हैं, उन सबमें पुरुषों की विजय लिखी हुई है, और स्त्रियों के जेवरों में स्त्रियों की पराजय लिखी हुई है—दोनो के जेवरों पर दोनो का इतिहास लिखा हुआ है।

कइयों का कहना है कि सुंदरता अथवा उपयोगिता की दृष्टि से वस्त्र तथा आभूषण पहने जाते हैं। सुंदरता के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। यह कहना संदिग्ध है कि उपयोगिता को दृष्टि में रखकर आभूषणों आदि का प्रयोग शुरू हुआ है। महाशय स्टार्क लिखते हैं कि आफ़्रिका के जंगली लोग सुंदर-सुंदर बालों की खाल को वर्षा के समय उतारकर बचा लेते थे, और उस समय नंगे फिरते थे। उन्हें अपनी उतनी फ़िक्र न थी, जितनी खाल की सुंदरता को कायम रखने की। सिलुक-जाति के लोग नंगे फिरते हैं, और मिलने-जुलने में

समय रंग-बिरंगे कपड़े पहन लेते हैं। टहीटी-जाति में उच्च घराने के लोग बहुत ज़्यादा कपड़े पहनते हैं। वर्तमान सभ्यता के युग में भी सख़्त गर्मी के समय कसे कपड़े पहने हुए अनेक सभ्य व्यक्ति देखे जाते हैं, जो हवा के लिये कुर्ते के बटन खोल देना असभ्यता समझते हैं। आफ़्रिका के फंडाह लोग अपने शरीर को कपड़ों से लपेटकर, बहुत मोटा बनाकर उपहास-जनक बना लेते हैं। कासीन के अरबी लोग पहले एक कुर्ता पहनते हैं, फिर दूसरा, फिर तीसरा और फिर चौथा, इस प्रकार जितने कुर्ते पहन सकते हैं, पहनते हैं। उनमें कपड़ों और आभूषणों को प्रतिष्ठा का चिह्न समझा जाता है, उपयोगिता का नहीं। इनकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं करता, इनके सुंदर होने को भी सभी स्वीकार करते हैं, परंतु इनके प्रारंभ होने के विषय में ही कइयों का कथन है कि ये पहलेपहल मनुष्य के जंगली हालत में किए हुए शिकार आदि में प्राप्त हुई प्रतिष्ठा के चिह्न थे। पीछे से इनकी उपयोगिता तथा सुंदरता को देखकर इनमें उन्नति होती गई। मनुष्य के वस्त्र तथा अलंकार उसकी विजय के चिह्न थे, स्त्री के उसकी पराजय के।

हमने देख लिया कि वर्तमान काल में प्रचलित पुरुष तथा स्त्री-जाति के वस्त्र और आभूषण विकासवाद की दृष्टि से पुरुष की 'विजय' तथा स्त्री की 'पराजय' के चिह्न हैं। हमने यह भी देखा कि 'उपयोगिता' तथा 'सुंदरता' की दृष्टि से अब इन्हें

सुंदर तथा उपयोगी बनाया जा रहा है। हम भी इस उद्योग के पक्ष में हैं, परंतु उसके साथ ही वस्त्रों तथा आभूषणों के इतिहास में स्त्री-जाति के प्रति एक संदेश है। यदि यह सच है कि स्त्रियों के आभूषण उनकी सदियों की दासता के चिह्न हैं, तो क्या ये चिह्न ऐसे ही बने रहेंगे? क्या उनके लिये हमारी बहनों का मोह बढ़ता ही चला जायगा? क्या जिस प्रकार वे उनके बोझ से अपने को लादती हैं, उसी प्रकार अपनी आगामी संतति को भी लादती ही चली जायँगी? यदि जेवरों को रखना जरूरी ही समझा जाय, तो क्या वे इन दासता के चिह्नों का त्याग कर उनमें उचित सुधार तथा परिवर्तन करने के लिये तैयार हैं? इन प्रश्नों का स्त्री-समाज की तरफ़ से जैसा भी उत्तर दिया जायगा, उसी से पता चल जायगा कि स्त्रियों ने आभूषणों के इतिहास के संदेश को कहाँ तक समझा है।

पर्दा

स्त्री-जाति का वह इतिहास, जो हमसे बहुत अधिक नज़दीक़ का है, स्त्रियों की दासता का इतिहास है। अत्यंत अधिक प्राचीन युग में क्या था, क्या न था, इस पर विद्वानों का सदा से मतभेद रहा है, और संभवतः रहेगा। कई कहते हैं, प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी, कई कहते हैं, बहुत नीची थी; परंतु इसमें किसी को संदेह नहीं कि अत्यंत प्राचीन काल को अगर छोड़ दिया जाय, और जिस काल में से निकलकर वर्तमान काल का उदय हो रहा है, उसी तक अपनी दृष्टि को परिमित रक्खा जाय, तो मानना पड़ता है कि स्त्रियों की वर्तमान स्थिति दासता के बंधनों के शिथिल होने से ही उत्पन्न हो रही है। पहले स्त्री को स्वतंत्र नहीं समझा जाता था, उसे पुरुष की संपत्ति समझा जाता था, पुरुष उसका जो कुछ चाहता था, करता था। पुरुष अपने इच्छा-नुसार जितनी स्त्रियों से शादी करना चाहता था, कर सकता था। जब उसकी इच्छा होती, वह स्त्री को तलाक़ दे सकता था, उसे छोड़ सकता था। ये बातें अब तक हमारे समाज में पाई जाती हैं। अनेक जंगली जातियों में स्त्रियों को चुरा लेने की प्रथा मौजूद है। स्त्रियों को भगाने के दृष्टांत आज दिन भी सुनने में आते हैं। पति के मरने के बाद विधवा को नजदीकी रिश्तेदारों के सुपुर्द

कर दिया जाता था, कभी-कभी उसे पति के शव के साथ जला दिया जाता था। स्त्री के साथ यह व्यवहार ऐसा ही था, जैसा गाय-भैंस के साथ होता है। गाय-भैंस की स्वतंत्र स्थिति नहीं, इसी प्रकार स्त्री की भी स्वतंत्र स्थिति नहीं थी। अपनी संपत्ति को जिस प्रकार प्रयत्न से सुरक्षित रक्खा जाता है, छुपा-छिपाकर रक्खा जाता है, उसी प्रकार स्त्री को भी छिपाकर रखने का प्रयत्न होता था, उसे सब किसी की आँखों से बचाने की कोशिश होती थी। स्त्री की दासता का यही भाव पर्दे के रूप में हमारी समाज में अब तक बना हुआ है। जैसे स्त्रियों के ज़ेवर स्त्री की दासता की निशानियाँ रह गई हैं, वैसे ही अनेक स्त्रियों से शादी कर लेना, मर्ज़ी से जब इच्छा हुई स्त्री को तलाक़ दे देना, लड़की का पिता की संपत्ति में कोई अधिकार न होना, पर्दे की प्रथा—ये सब स्त्री की दासता की निशानियाँ रह गई हैं, जिनके विरुद्ध अब मानव-समाज में विद्रोह उत्पन्न हो रहा है, जिन्हें कम-से-कम स्त्रियाँ तो अब एक क्षण के लिये भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं।

स्त्री को दासी समझने के भाव बहुत देर से चले आ रहे हैं। उसे पुरुष से बहुत नीचा समझा जाता रहा है। चीन के प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक कन्फ्यूशस का कथन था कि स्त्रियों का उचित स्थान घर है, उनका उससे बाहर जाने का कोई काम नहीं। वह कहता था कि स्त्रियों से बहुत अधिक परिचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वे बेअदबी करने लगती हैं। बौद्ध-साहित्य में भी स्त्रियों की स्थिति बहुत नीची दिखाई पड़ती है। महात्मा बुद्ध ने आनंद

के बहुत कहने पर जब स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने का अधिकार दे दिया, तब साथ ही यह भी कह दिया कि स्त्रियों का संघ में आना ऐसा ही है, जैसे संघ में चोर आ घुसें, अब संघ देर तक नहीं चलेगा। अगर पहले संघ हज़ार वर्ष तक स्थिर रहता, तो अब पाँच सौ वर्ष तक ही स्थिर रहेगा। स्मृति-ग्रंथों में भी स्त्रियों के संबंध में यही दासता के विचार पाए जाते हैं। पति चाहे, तो बाँस की छड़ी से अपनी स्त्री को मार सकता है, और स्मृति इस बात की इजाज़त देती है। पार्सियों के धर्म-ग्रंथ में लिखा है कि स्त्री को प्रातःकाल उठते ही नौ बार अपने पति से पूछना चाहिए कि "मैं क्या करूँ?" मुसल्मानों के यहाँ चार स्त्रियों तक शादी करने का विधान है। पुरुष के मुक़ाबले में स्त्री की शहादत आधी मानी जाती है, और दो स्त्रियों की शहादत एक पुरुष की शहादत के बराबर समझी जाती है। यहूदी लोग बहु-विवाह की प्रथा से मुक्त नहीं हैं। उनकी धर्म-पुस्तकों में शत्रुओं की स्त्रियों को लूट लाने का आदेश दिया गया है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में स्त्रियों को पुरुषों में बाँट देने का काम राज्य के सुपुर्द किया है। ईसाइयत ने यहूदियों के स्त्रियों की स्थिति-संबंधी विचारों में पर्याप्त परिष्कार किया, बहु-विवाह की प्रथा को उसने उड़ा दिया, परंतु ईसाइयत भी स्त्री को दासता की स्थिति से सर्वथा मुक्त न कर सकी। ईसाइयत के अनुसार पुरुष में तो आत्मा था, परंतु स्त्री में आत्मा न था। ईसाइयत का कथन है कि पुरुष

का अधिकार शासन करना और स्त्री का कर्तव्य शासित होना है। सेंट पाल का स्त्रियों के संबंध में यही विचार था। विगत महायुद्ध से पहले तक किसी स्त्री को ईसाई-धर्म में पादरी बनने का अधिकार न था। स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखने में ईसाइयत और शंकराचार्य की शिक्षाओं में समानता ही पाई जाती है। स्त्रियों के संबंध में घृणा के ये विचार सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों की स्थिति किसी समय इतनी नीची थी कि आजकल के स्वतंत्रता के विचारों में वर्तमान स्त्री ऐसे अनुभव करती है, जैसे किसी घुटे हुए वातावरण में से वह खुली हवा में आ गई हो, जैसे जेल से छूटकर वह आजाद हो गई हो।

स्त्रियों को सदियों तक दासता की जंजीरों में कसकर रक्खा गया है, पर्दे की प्रथा उसी दासता का एक मूर्तिमान् अवशेष है। पर्दे का अर्थ यह है कि पुरुष स्त्री को अपनी चीज समझकर उसे दूसरों की नजरों से बचाना चाहता है, वह स्त्री पर विश्वास नहीं कर सकता। किसी स्त्री के लिये इससे गर्हित स्थिति क्या हो सकती है कि उसका पति उस पर विश्वास न कर सके, और उसे एक कृत्रिम उपाय से अपने अधीन रखने का प्रयत्न करे। स्त्री को इस प्रकार पर्दे में रखना उसे दासता की शृंखला में बाँध रखने की चरम सीमा है, परंतु क्योंकि हमारा समाज अभी तक स्त्री के विषय में दासता के भावों में ही सोचता है, इसलिये इस अवस्था को सहन किया जा रहा है। जब भी हमारा समाज स्त्री के प्रति

दासता के भावों में सोचना बंद कर देगा, उसी समय पर्दे की प्रथा दूर हो जायगी ; और यही प्रथा नहीं, इसके साथ-साथ बहु-विवाह आदि अनेक कुप्रथाएँ, जिनका स्त्री-जगत् शिकार हो रहा है, एक साथ लुप्त हो जायँगी।

कुछ समय से स्त्रियाँ अपने अधिकारों को समझने लगी हैं। वे अब दासता की बेड़ियों में बँधे रहना नहीं सहन कर सकतीं। पाश्चात्य देशों में तो स्त्रियों के अधिकारों के लिये एक प्रबल आंदोलन हुआ है, जिसे सफ़रेजिस्ट मूवमेंट (Suffragist Movement) के नाम से कहा जाता है। यह आंदोलन सबसे पहले इँगलैंड में १७९२ में मेरी वोल्स्टन क्रैफ्ट (Mary Wollstonecraft) ने अपनी पुस्तक 'Vindication of the Rights of Women' लिखकर प्रारंभ किया। इसके लगभग ५० साल बाद जेम्स स्टुअर्ट मिल ने Subjection of Women-नामक पुस्तक लिखकर स्त्रियों के अधिकारों पर अपने विचार जोरदार भाषा में प्रकट किए, और इस आंदोलन को दार्शनिक सहारा दे दिया। इस समय पश्चिम की बहनें बहुत अंश तक अपने अधिकारों की लड़ाई को सफलता तक ले गई हैं। उन्हें नागरिकता के अधिकार मिल गए हैं-और वे अपनी वोट के अधिकार का इस्तेमाल कर सकती हैं। पश्चिम की स्त्रियों ने दासता की जंजीरों को काट दिया है, और वे स्वतंत्र हो गई हैं। टर्की और अफ़ग़ानिस्तान-जैसे देशों में स्त्रियों ने बुर्के उतार फेंके हैं, और वे अपने अधिकारों की चर्चा

करने लगी हैं। पर्दा तो स्त्री की दासता का केवल एक उप-लक्षण है। पर्दा हट जाय, और स्त्री को उसी प्रकार गुलामी के वायुमंडल में रक्खा जाय, जिसमें वह अब तक रहती आई है, तो पर्दे का हटना-न हटना बराबर है। स्त्री को पर्दे में रखने का अभिप्राय ही यह है कि उसके मनुष्यता के सब अधिकार छीन लिए गए हैं, और वह केवल गुलाम के रूप में मनुष्य-समाज का अंग बनी रह सकती है। इस समय पर्दे के विरुद्ध जो आंदोलन हो रहा है, उसे इसी दृष्टि से देखना चाहिए। यह समझना कि स्त्रियाँ केवल पर्दा हटाना चाहती हैं, और अगर उन्हें सिर्फ़ पर्दा हटाने का अधिकार दे दिया जाय, तो वे संतुष्ट हो जायँगी, चाहे फिर भले ही उन्हें उसी गुलामी में रक्खा जाय, जिसमें वे अब तक रहती आई हैं, सारे आंदोलन की आत्मा को न समझना है। पर्दे के विरुद्ध आंदोलन उस दासता और गुलामी के विरुद्ध आंदोलन है, जिसमें अब तक हमारे समाज ने स्त्री को जबर्दस्ती बंद कर रक्खा है।

कई लोग पर्दे के प्रश्न को आसान समझते हैं। वे समझते हैं कि मुख पर से पर्दा हटा देना-मात्र पर्दे के प्रश्न को हल कर देने के लिये काफ़ी है, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। पर्दे का अभिप्राय यह है कि अब तक मानव-समाज में स्त्री की स्वतंत्र रूप से कोई स्थिति नहीं थी। वह पुरुष की गुलाम थी। अगर पर्दा हटेगा—जैसा कि अवस्थाएँ बतला रही हैं कि वह हटकर रहेगा—तो स्त्री की समाज में स्वतंत्र स्थिति भी बनेगी, वह

पुरुष की गुलाम बनकर नहीं रहेगी। पर्दे का प्रश्न स्त्रियों की दृष्टि से इसीलिये इतना महत्त्व रखता है, क्योंकि यह केवल मुख पर से कपड़ा उतार देने का प्रश्न नहीं है, यह सदियों की गुलामी को परे उतार फेंकने का प्रश्न है।

हमारे समाज में स्त्रियों की कोई स्थिति नहीं है, तभी तो पुरुष जितनी स्त्रियों से शादी करना चाहता है, कर बैठता है; तभी तो पुरुष मनमानी कर सकता है, और स्त्री को केवल पुरुष के मन की करनी होती है; तभी तो स्त्री को जिस पैमाने से मापा जाता है, पुरुष को उस पैमाने से नहीं मापा जाता। पर्दे के हटने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पुरुष को समाज में अपने स्वतंत्र अधिकार हैं, उसी प्रकार स्त्री को भी मानवता के अधिकार मिलने चाहिए, और उसे पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन-मात्र नहीं समझना चाहिए। क्योंकि स्त्रियों के लिये पर्दे का प्रश्न इतना विस्तृत प्रश्न है, क्योंकि इस प्रश्न के हल होने का मतलब है स्त्रियों के अधिकारों का स्वीकार किया जाना, इसलिये स्त्रियाँ इस प्रश्न को जितना गौरव देती हैं, शायद पुरुष इसे इतना गौरव नहीं दे सकते।

इसके अतिरिक्त पर्दे का प्रश्न समाज के दृष्टि-कोण से भी बड़ा आवश्यक प्रश्न है। पर्दे के कारण इस समय हमारा समाज एक अधूरा समाज है। पुरुष अलग हैं, स्त्रियाँ अलग हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार का संबंध नहीं है। इस समय हमारे समाज की अवस्था यह है कि अपनी धर्मपत्नी, बहन,

माता आदि के अतिरिक्त यदि अन्य किसी स्त्री के साथ कोई पुरुष बातचीत करे, अथवा कोई स्त्री अपने पति, भाई, पिता आदि के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के प्रति उन स्वाभाविक सामाजिक प्रेम के उत्कृष्ट तथा पवित्रतम भावों का परिचय दे, जिन्हें प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री के हृदय में स्वयं भगवान् ने अपने हाथों से रक्खा है, तो उन पर 'बदमाश' होने का संदेह किया जाता है, हम इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि पुरुष तथा स्त्री, समाज के क्षेत्र में, ऐसे ही स्वतंत्र मिल सकते हैं, जैसे पुरुष पुरुषों के साथ तथा स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ मिलती हैं। अभी तक पुरुषों का समाज सर्वथा अलग है, और स्त्रियों का सर्वथा अलग—दोनो का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है। यदि हो सकता है, तो केवल पति-पत्नी का, एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन का, माता-पुत्र और पिता-पुत्री का। इस प्रकार को छोड़कर किसी दूसरे प्रकार का संबंध अनुचित होगा, नाजायज़ होगा। हमारी यह समझ में ही नहीं आ सकता कि यदि किसी पुरुष-स्त्री का पति-पत्नी का संबंध नहीं है, एक ही रुधिर का भी संबंध नहीं है, फिर वह नाजायज़ संबंध के अतिरिक्त तीसरा संबंध हो ही कौन-सा सकता है। हमारे समाज में ये विचार घर कर गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हें वेद-वाक्यवत् सत्य मानता है, और इसीलिये जहाँ स्त्री-पुरुषों में मिलना-जुलना दिखाई देता है, उसके विरुद्ध हृदय में क्रांति-सी उत्पन्न हो जाती है।

फ़रक़ इतना ही है कि कई ईमानदारी से अपने भावों को कह डालते हैं, और कई उन्हें दबाए रखते हैं। युवक-दल तो नई रोशनी से प्रभावित होकर पुराने बंधनों को तोड़-फोड़ डालना चाहता है, परंतु जिनके हाथ में समाज की बागडोर है, वे नौजवानों का कुछ चलने नहीं देते। वे विवाहित स्त्री-पुरुष के ही प्रातःकाल इकट्ठे सैर करने जाने को निर्लज्जता तथा उद्दंडता की परा काष्ठा समझते हैं, फिर वे ग़ैर स्त्री-पुरुष के किसी प्रकार भी परस्पर संपर्क में आने को क्योंकर सह सकते हैं। उनकी सम्मति में इस प्रकार का संबंध अनौचित्य तथा उच्छृंखलता की चरम सीमा है।

इसमें संदेह नहीं कि हमारे समाज की वर्तमान अवस्था उपर्युक्त विचारों की ही पुष्टि करती है। यदि किसी युवक की सामयिक सहायता पाने के कारण कोई युवती उसके प्रति कोमल शब्दों में कृतज्ञता के भाव प्रकट करती है, तो वह मूर्ख उस युवती को अपने ऊपर लट्टू हुआ समझने लगता है। उसके हृदय में इससे उच्च किन्हीं मानवीय विचारों के लिये स्थान ही नहीं दिखाई देता। स्त्रियों को हमारे समाज में पुरुषों से इतनी दूर रक्खा जाता है कि वे साधारणतम मानवीय भावों को भी प्रकाशित नहीं कर सकतीं। किसी भारी मेले में रास्ता भटक गई बुढ़िया को ठीक स्थान पर पहुँचा देने से वह तो अवश्य ज़रूरत से ज़्यादा धन्यवाद की झड़ी लगा देती है, परंतु एक युवती उसी प्रकार की अवस्था में वैसी ही सहायता पाकर

कृतज्ञता में ज़बान तक नहीं हिला सकती। यह नहीं कि उसके हृदय में वे साधारण-से कृतज्ञता के भाव उदित ही नहीं होते, जो पशुओं तक में पाए जाते हैं; नहीं, इसलिये कि कहीं उसके शब्दों का अनर्थ न कर लिया जाय। पुरुषों से स्त्रियों को बहुत दूर रक्खा जाता है, इसलिये उनका स्त्रियों की नज़दीकी का उल्टा अर्थ कर लेना स्वाभाविक है, और इसीलिये वृद्धों का स्त्री-पुरुषों को सामाजिक जीवन में अलग-अलग रखने का उद्योग भी कुछ अंश तक उपयुक्त ही है। दैनिक पत्रों में रोज़ घटनाएँ छपती हैं। किसी लड़की ने किसी तरफ़ देख लिया। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, जिस तरफ़ भी नज़र उठी, चली गई। अचानक समीप से जाते हुए युवक पर नज़र पड़ गई। उसने समझा कि उसी पर यह ख़ास कृपा की गई है। ज्यों क़िस्सा छिड़ा कि उसका अंत अदालत में हुआ। ऐसी अवस्थाओं के होते हुए क्योंकर वृद्ध लोग स्त्री-पुरुषों को सामाजिक जीवन में स्वतंत्रता देने के पक्ष में हो सकते हैं! मुँह पर पड़ा पर्दा उठ जाय, तो उठ जाय, वे इस नई बेपर्दगी के हक़ में नहीं हो सकते।

तो फिर क्या होगा? क्या पर्दे को दूर करने का अभिप्राय मुख पर से बुर्क़ा उतार देना-मात्र होगा, अथवा इसका अभिप्राय कुछ और गहरा होगा? क्या स्त्रियाँ पर्दा हटाकर सामाजिक जीवन में पुरुषों से उतनी ही दूर खड़ी रहेंगी, जितनी दूर वे अब तक थीं, अथवा उन्हें भी समाज का उसी प्रकार अंग समझा जायगा, जिस प्रकार पुरुषों को समझा जाता है?

इसका उत्तर पाने के लिये इतिहास के कुछ पन्ने पलटने आवश्यक हैं।

मुसल्मानों ने स्त्रियों को सामाजिक जीवन में कोई स्थान नहीं दिया। उनका समाज पुरुषों का समाज है। पुरुष ही उनकी समाज रूपी मस्जिद की आधार-शिला, पुरुष ही उसकी ईंट, पुरुष ही उसकी दीवार और पुरुष ही उसके गुंबज हैं। ऐसी रचना बनाकर मुसल्मानों ने समाज का जो स्वरूप बना लिया है, वह किसी प्रकार स्पृहणीय नहीं है। उनके यहाँ स्त्रियाँ मर्दों की तरह आज़ाद नहीं हैं, और इसीलिये उनके समाज की रचना में स्त्रियों का हाथ नहीं है, जो कुछ है, वह नाममात्र का है। मुसल्मानों के समाज का विकास हुआ, परंतु वह विकास शरीर के फूलने की तरह का था, बढ़ने की तरह का नहीं। मुसल्मानों के समाज के विकास को मानव-जाति के शरीर में उत्पन्न हुए एक रोग से उपमा दी जा सकती है। आग और तलवार से उतरकर वे बात ही नहीं करते थे। वे कठोरता, क्रूरता और निर्दयता के अवतार दिखाई देते थे। कोमलता, सहृदयता, प्रेम आदि जिन गुणों से मनुष्य की वज्र-प्रकृति में मृदुता तथा देवत्व का संचार होता है, उनसे मुस्लिम समाज सर्वथा वंचित रहा है। यदि कहीं मुसल्मानी संसार में स्त्रियाँ हवा खाने को भी निकली हैं, तब भी लिपटी हुई, ढकी हुई, चारों तरफ़ की दुनिया से बिलकुल अलग, इस दुनिया में रहती हुई भी किसी दूसरी दुनिया में! जहाँ समाज के एक अंग को इस

प्रकार काटकर अलग फेंक दिया जाय, वहाँ पहले तो किसी प्रकार की उन्नति होगी ही नहीं, और जो होगी भी, वह अधूरी—बिलकुल आधी। सैमेटिक जातियों का संदेश गगन-व्यापी अग्नि-ज्वालाओं का संदेश है, तलवारों की खनखनाहट का संदेश है, गर्म ख़ून की उबलती हुई नदियों का संदेश है, क्योंकि उनके सामाजिक जीवन में स्त्री का स्त्री-रूप से कोई स्थान नहीं है। उनके समाज का बनानेवाला पुरुष है, और उसने सब जगह अपनी कठोर प्रकृति का परिचय दिया है। सैमेटिक जातियों ने समाज के जिस भवन का निर्माण किया है, उसके नीचे 'आग-ख़ून-तलवार' इनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दिखाई देता। जब तक स्त्रियों को सामाजिक क्षेत्र में अपना उचित स्थान नहीं मिलेगा, जब तक उन्हें पुरुषों की तरह समाज का जीता-जागता अंग न समझा जायगा, जब तक उन्हें किसी प्रकार के भी पर्दे के पीछे रक्खा जायगा, तब तक समाज, सैमेटिक जातियों के समाज की तरह, अर्धांग-रोग से पीड़ित रहेगा, उन्नतिशील नहीं हो सकेगा, मानव-जाति के दैवी गुणों से वंचित रहेगा।

सैमेटिक जातियों के विपरीत आर्य-जातियों ने स्त्री को स्त्री-रूप से पुरुष की तरह समाज का अंग मानने का प्रयत्न किया था, और इसीलिये उनमें सर्व-नाश-कारी कठोरता तथा नीरसता नहीं पाई जाती। इस समय हम लोग अनेक सैमेटिक

संस्कारों के कारण प्राचीन वैदिक विचारों से विमुख हो चुके हैं, परंतु किसी समय इसी भारत में गार्गी-सी विदुषी देवियाँ सभाओं में अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाया करती थीं। स्वयंवरों की प्रथा इसी पर्दे पर लट्टू होनेवाले देश में प्रचलित थी। उस समय के भारत का संदेश शांति का, आशा का, उत्साह का संदेश है। उस उपदेश को सदियों बाद आज भी सुनकर हृदय से 'धन्य'-'धन्य' निकलने लगता है। भारत के प्राचीन समाज की रचना में स्त्रियों का उतना ही हिस्सा था, जितना पुरुषों का।

योरप की आर्य-जातियों में भी स्त्री को पुरुषों के साथ एक ही स्थिति पर लाने का प्रयत्न किया गया। लूथर ने पर्दे के पीछे दबी स्त्री-जाति को पुरुषों के साथ एक ही मंच पर आगे ला खड़ा किया। इसमें संदेह नहीं कि आगे चलकर स्त्री-पुरुषों के इस मिलने-जुलने से अनर्थ पैदा होने लगे, परंतु इसका कारण यही है कि वे लोग उस मानवीय उच्चता को अनुभव ही न कर सके, जहाँ तक लूथर उन्हें पहुँचाना चाहता था। वर्तमान योरप में स्त्रियाँ समाज का अंग समझी जाती हैं, और सभ्यता को बढ़ाने में वे भी अपना हिस्सा ले रही हैं, परंतु अभी वहाँ पर भी वे पूरा हिस्सा नहीं ले रहीं। यदि योरप की सभ्यता को विकसित करने में स्त्रियों का पूरा हिस्सा होता, तो गोरी जातियाँ निर्बल जातियों को क्रूरता-पूर्ण व्यवहारों से सभ्य बनाने का भारी बोझ कभी

का हल्का हो चुका होता। फिर भी योरप जो कुछ थोड़ा-बहुत कर रहा है, उसका उत्तेजन स्त्रियों द्वारा ही मिल रहा है। शक्ति के मद में अंधा हुआ वह अनेक नीचता के कार्य भी कर जाता है, परंतु ऐसे काम इसीलिये हो जाते हैं, क्योंकि स्त्रियों की योरप में भी वह स्थिति नहीं है, जो होनी चाहिए। हाँ, इसके साथ-साथ हमें यह भी मानना पड़ता है कि योरप में स्त्री-पुरुषों की अत्यधिक स्वतंत्रता से इस प्रकार के अनेक अनर्थ भी हो जाते हैं, जिन्हें रोकना कठिन हो जाता है। मनुष्य की इस गिरावट को देखकर सैंगेटिक-जाति के लोग समझने लगते हैं कि समाज से स्त्री को सर्वथा निर्वासित कर देने का उनका विचार बिल्कुल ठीक है।

ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम दो परस्पर विरुद्ध विचारों पर पहुँचते हैं। हम यह भी समझते हैं कि स्त्रियों के बिना समाज अधूरा रह जाता है, उसकी उन्नति इकतरफ़ा रहती है, उसका विकास पूरा नहीं होने पाता; इसके साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि स्त्रियों को समाज का अंग बना देने से समाज की दोनो मशीनों का पुर्ज़ा कहीं-न-कहीं से ढीला हो जाता है। इस द्विविधा में क्या किया जाय?

स्त्री-पुरुषों के खुला मिलने से कहीं-कहीं ख़राबी पैदा हो जाती है, इतना कह देने-मात्र से कुछ सिद्ध नहीं होता। ख़राबी तो वहाँ भी पैदा हो जाती है, जहाँ दोनो को रुई में लपेटकर अलग-अलग

रक्खा जाता है। प्रश्न यह है कि इन दोनो अवस्थाओं में अधिक हानिकर अवस्था कौन-सी है? अनुभव यही बतलाता है कि जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों को अजीब चीज़ नहीं समझतीं, और न पुरुष स्त्रियों को आसमान में उड़नेवाली बुलबुल समझते हैं, वहाँ का आचार दूसरे लोगों से कहीं बढ़कर होता है। मद्रास तथा महाराष्ट्र में स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं। सिर तक नंगा रखती हैं। लड़कों के साथ स्कूल-कॉलेज में पढ़ती हैं। उनमें कोई खराबी नहीं दिखाई देती। वे समाज में उसी प्रकार हिस्सा लेती हैं, जैसे पुरुष। वहाँ की स्त्रियों में आत्म-बल है। वे बाज़ार से निकलती हुई दुनिया-भर से बचती-बचती नहीं निकलतीं। दूसरी गली के घर में जाते समय उनकी हिफ़ाज़त के लिये दो सिपाही तैनात नहीं करने पड़ते। वे ऐसी निर्भय होकर घूमती-फिरती हैं, साँस लेती हैं, जैसे पुरुष। आफ़्रिका में हब्शी लोग नंगे फिरते हैं। इस अवस्था में भी स्त्री-पुरुष अपने दैनिक कार्य करते हैं। उन लोगों को देखकर संदेह हो जाता है कि क्या नंगेपन तथा दुराचार में कोई संबंध है भी या नहीं। यदि होता, तो क्या आफ़्रिका के नंग-धड़ंग हब्शी कोट-पतलून पहननेवालों के साथ सदाचार की तुलना में रक्खे जा सकते थे? परंतु फिर भी सभ्यता की डींग हाँकनेवालों को आफ़्रिका के जंगली लोगों की बातें सुनकर लज्जा से सिर नीचा कर लेना पड़ता है। हब्शी लोग नंगे रहते हुए भी पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते हैं। यदि समाज

में स्त्री-पुरुषों के परस्पर मिलने-जुलने का परिणाम अनुचित ही हो, तो सबसे बड़े बदमाश यूरोप के लोग होने चाहिए; परंतु है ठीक इससे उल्टा! योरप के लोगों में आचार के नियम जरा शिथिल प्रतीत होते हैं, इसका कारण स्त्री-पुरुषों का स्वतंत्र रूप से मिलना नहीं, बल्कि वहाँ का प्रकृतिवाद है। जीवन के विषय में उनकी दृष्टि ही ऐसे ढीले उसूलों से बनी है कि वे आचार-संबंधी बातों को वह महत्त्व नहीं देते, जो हम देते हैं। यह दृष्टि-कोण बदल जाय, तो स्त्री-पुरुषों में मिलना-जुलना होते हुए भी हमें उनके आचार में कोई गिरावट न दिखाई दे।

इस समय समाज में एक नवीन भाव के जाग्रत करने की आवश्यकता है। स्त्रियों को हम जिस प्रकार समाज से निर्वासित किए हुए हैं, पर्दे के पीछे ढके हुए हैं, उससे हमारा समाज पुरुषों का ही समाज कहला सकता है, अधूरा ही रह सकता है, उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। इस अवस्था को दूर किया जाना जरूरी है। कपड़े का पर्दा हटा देने-मात्र से पर्दा नहीं हटेगा, पर्दे को हटाने के लिये समाज में स्त्रियों की स्थिति को ही मूल से बदलना होगा। हमें नवयुवकों तथा नवयुवतियों के स्त्री-पुरुष-संबंधी विचारों को सर्वथा परिवर्तित कर देना होगा। दोनो अपने को गौरव के साथ समाज का समान रूप से अंग समझने लगें, और परस्पर इस प्रकार व्यवहार करने लगें, जिस प्रकार पुरुष पुरुषों के

साथ और स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ करती हैं, तब जाकर समाज का सम-विकास होना प्रारंभ होगा। इसमें संदेह नहीं कि हमारा समाज इतना गिरा हुआ है कि ऐसे विचारों को गंदे नाम देकर उन पर गालियों की बौछार करना प्रारंभ करेगा, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि मानव-प्रकृति के इस उच्च शिखर पर पहुँचकर ही मनुष्य-समाज का कुछ भला हो सकेगा। यह बात पत्थर की लकीर की तरह अमिट समझनी चाहिए कि जब तक समाज से स्त्रियों को निर्वासित किया जायगा, जब तक पुरुषों की तरह उनके व्यक्तित्व को भी पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जायगा, तब तक हमारा समाज अधूरा ही नहीं, प्रत्युत आचार-भ्रष्टता की दलदल में भी फँसा रहेगा, और उसमें से निकलने का प्रत्येक झटका उसे दो अंगुल और भीतर ढकेल देगा। मैं तो उत्सुकता-पूर्ण नेत्रों से अपने समाज के उन दिनों की प्रतीक्षा कर रही हूँ, जब इस समाज की देवियाँ पुरुषों के साथ समानता की वेदी पर आकर मिलेंगी, और उनके परस्पर के संबंध कुवासनाओं की दुर्गंध से अम्लान होते हुए एक दूसरे की उन्नति में सहायक सिद्ध होने लगेंगे। जिस दिन यह दृश्य दिखाई देगा, उस दिन किसी स्त्री को पर्दे से मुँह ढाँपने की जरूरत न रहेगी, क्योंकि तब संसार-भर की अपने से बड़ी आयु की स्त्रियों को सब लोग माता की दृष्टि से देखेंगे, और अपने बराबर की स्त्रियों को बहन की दृष्टि से। ऐसी अवस्था में लड़के-लड़कियों के इकट्ठे पढ़ने पर और

स्त्रियों के पर्दा हटा देने पर कुढ़ने की जरूरत न रहेगी, क्योंकि तब जिससे डरकर हम पुरुषों तथा स्त्रियों को अलग-अलग रखना चाहते हैं, वह बात ही न रहेगी, पुरुष तथा स्त्रियाँ खुले तौर से समाज में हिस्सा लेंगे, परस्पर मिलेंगे, परंतु ऐसे ही, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, और स्त्रियाँ स्त्रियों से।

पर्दे के प्रश्न को हमें इन्हीं दो दृष्टियों से देखना चाहिए। एक दृष्टि स्त्री की दृष्टि है, जिसमें पर्दे का हटना स्त्री की सदियों की गुलामी का हटना है। स्त्रियाँ इसी दृष्टि से इसी प्रश्न को महत्त्व देती हैं। पर्दे के हटने का मतलब उनके लिये यह है कि उनके मानवता के अधिकारों को स्वीकार कर लिया जाय, उन्हें भी पुरुषों के ही पैमाने से मापा जाय। यह समझ लिया जाय कि अगर पुरुष अपनी स्त्री को सती-साध्वी देखना चाहता है, तो स्त्री भी चाहती है कि पुरुष सदाचारी रहे, अगर पुरुष स्त्री से कुछ आदर्शों के पालन की आशा रखता है, तो स्त्री भी पुरुष से उन आदर्शों के पालने में वैसी ही आशा रखती है। पर्दे के प्रश्न को हल करने में दूसरी दृष्टि समाज की दृष्टि है। अगर समाज में पुरुष अलग रहेंगे, और स्त्रियाँ अलग रहेंगी, तो समाज का विकास अधूरा विकास होगा, और क्योंकि स्त्रियाँ पर्दे में ही बंद रहेंगी, इसलिये समाज का विकास केवल पुरुषों के दृष्टिकोण का ही विकास होगा। सृष्टि की रचना में जहाँ कठोरता की जरूरत है, वहाँ कोमलता की भी कम जरूरत नहीं है। यह काम तभी हो सकता है, जब समाज से स्त्री

को वैसे निर्वासित न किया जाय, जैसे इस समय उसे किया जाता है। पर्दे का हटना जहाँ स्त्री की गुलामी को दूर करने के लिये जरूरी है, वहाँ समाज के सर्वांगीण विकास के लिये भी उतना ही जरूरी है।

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र सदियों से घर समझा जाता रहा है। घर से बाहर की दुनिया के साथ भी उनका क्या संबंध हो सकता है, इस पर मानव-समाज ने बहुत देर से विचार नहीं किया। विवाह करना, पति की आज्ञा पालना, संतानोत्पत्ति—यही उनके जीवन का ध्येय रहा है। इतने काम के लिये शिक्षा की क्या आवश्यकता है? अगर उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ना भी हो, तो उतना ही काफ़ी है, जितना पति के जी-बहलाव के लिये पर्याप्त हो। उन्हें चिट्ठी लिखना आना चाहिए, सीने-पिरोने और रसोई बनाने में उन्हें दक्ष होना चाहिए, इससे आगे स्त्री-शिक्षा निरर्थक हो जाती है। इसी आदर्श को सामने रखकर ग्रीक लोग स्त्रियों को साधारण-सी लिखने-पढ़ने तक की शिक्षा दे दिया करते थे, उससे अधिक नहीं। रोम में यद्यपि स्त्रियों की स्थिति ग्रीस की अपेक्षा ऊँची थी, तो भी उनका स्त्री-शिक्षा का आदर्श संकुचित ही था। योरप में १८वीं शताब्दी तक स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर की देख-भाल करना, बच्चों की परवरिश करना और चर्खा चलाना रहा। जब स्त्री ने इस क्षेत्र से बाहर क़दम ही नहीं रक्खा, तब उसकी शिक्षा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था? इसलिये बहुत देर तक

योरप में लड़कों की शिक्षा के उन्नत रूप में आ जाने पर भी स्त्रियों की शिक्षा का प्रश्न उठा ही नहीं, उस पर किसी ने विचार तक करने का कष्ट नहीं किया। भारतवर्ष में वैदिक युग में तो स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी, उस समय स्त्रियों की शिक्षा भी ऊँचे पाए तक पहुँच चुकी थी, परंतु मध्ययुग में यहाँ भी स्त्री को घर में ही बंद कर दिया गया, और उसकी शिक्षा के प्रश्न को खत्म कर दिया गया। योरप ने इस प्रश्न को बहुत कुछ हल कर लिया है, परंतु भारतवर्ष में यह प्रश्न अभी तक लगभग वैसा ही बना हुआ है।

स्त्रियों को घर में ही बंद रखना, उन्हें बाहर न आने देना, उन्हें गुलामी में रखने की निशानी है। हमारे समाज से गुलामी की प्रथा वैसे तो लुप्त हो गई है, गुलामों का खरीदना और बेचना हट गया है, परंतु उस गुलामी से एक गहरी गुलामी अब तक मौजूद है, जिसे हम अभी तक नहीं हटा पाए। प्रत्येक विवाहित पुरुष के घर में उसकी स्त्री एक ऐसी गुलाम है, जो हर समय उसका कहना मानने को वैसे ही तैयार है, नहीं, वैसे ही बाधित है, जैसे गुलाम हुआ करते थे। स्त्री की इच्छा हो, या न हो, उसे अपने पति की हरएक इच्छा के सामने सिर झुकाना होगा; वह निरा नर-पिशाच ही क्यों न हो, उसे देवता समझकर पूजना होगा, और जीवन-पर्यंत उसके पाँवों की धूलि अपने मस्तक पर लगानी होगी। क्या गुलामी की हद इससे भी परे जा सकती है? गुलामों

की तरह स्त्री को हमारे समाज में बेचा जाता है; कई गुलाम रखने की तरह कई स्त्रियों से शादी की जाती है। लोग कहते हैं, गुलामों की प्रथा दूर हो गई, परंतु हमारे समाज में स्त्री की जो स्थिति है, वह जब तक वैसी ही बनी रहेगी, तब तक कौन कह सकता है कि हमने गुलामी की प्रथा को दूर कर दिया है। पुरुष-समाज स्त्री को अपना गुलाम रखने के भाव से उसे घर में क़ैद किए हुए है, उसके कार्य-क्षेत्र को इतना सीमित बनाए हुए है कि उसकी समझ में ही नहीं आता कि घर से बाहर स्त्री क्या कर सकती है?

स्त्री को सदियों से गुलामी की हालत में रखकर पुरुष ने उसकी जो दशा कर दी है, कहा जाता है कि स्त्री की यह स्वाभाविक दशा है। स्त्री का स्वभाव ही ऐसा है कि वह घर से बाहर अपना कार्य-क्षेत्र बनाना पसंद ही नहीं कर सकती। वह स्वभाव से किसी-न-किसी पुरुष का आश्रय ढूँढ़ती है, स्वभाव से किसी-न-किसी पुरुष का गुलाम बनना चाहती है। अगर उसे इस बंधन से, इस गुलामी से मुक्त कर दिया जाय, अगर उसे सोलह वर्ष की आयु के बाद अवश्य ही विवाह-बंधन में बाँधने के बजाय अपनी मर्ज़ी से जैसा वह करना चाहे, आज़ादी से करने दिया जाय, तो वह फिर भी इस बंधन को अपने ऊपर ले लेगी, और इस गुलामी से भागने के बजाय इसमें स्वयं आ फँसेगी। परंतु विवाह-बंधन में फँसना और गुलामी को स्वीकार कर लेना दोनो बातें

एक नहीं हैं। विवाह-बंधन में तो पुरुष भी फँसता है, परंतु वह इसमें फँसकर गुलाम नहीं बन जाता। स्त्री के विषय में यह समझा जाता है कि विवाह करने पर वह पुरुष पर इतनी आश्रिता हो जाय कि उसकी गुलाम होकर ही रह सके, वैसे रह ही न सके। हमारे समाज में या तो स्त्री की शिक्षा होती ही नहीं, या होती है, तो इस ढंग की कि वह पति का सहारा लेकर ही जीवन निर्वाह कर सकती है, उसके बिना उसके पास जीवन-निर्वाह का कोई उपाय ही नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी आजीविका का साधन केवल विवाह कर लेना समझती है, और विवाह कर लेने के बाद उसे अपनी प्रत्येक इच्छा पतिदेव की इच्छा-वेदी पर बलि-रूप से चढ़ा देनी पड़ती है, क्योंकि उसके बिना फिर उसकी आजीविका का प्रश्न वैसे-का-वैसा भयंकर रूप धारण कर लेता है। स्त्री का स्वभाव पुरुष की गुलामी करना नहीं है, परंतु क्योंकि उसे संसार-क्षेत्र में कृतकार्यता-पूर्वक जीवन-निर्वाह करने की कोई शिक्षा ही नहीं दी जाती, इसलिये बाधित होकर उसे गुलामी में जीवन बिताने को ही अपना लक्ष्य बनाना पड़ता है। अगर स्त्रियाँ आजीविका के लिये पति पर इतनी आश्रिता न हों, जितनी आज वे बना दी गई हैं, तो विवाह-संबंध में स्त्री की गुलामी के कारण जो गिरावट आ गई है, वह दूर हो जाय, और विवाह का बंधन स्वामी तथा सेविका का संबंध न होकर यथार्थ में पति-पत्नी का संबंध हो जाय। यह समझना भूल है कि स्त्रियाँ स्वभाव से गुलाम बनना

चाहती हैं। उनके हृदय में प्रेम है, उच्च-से-उच्च शिक्षा पाकर भी वे विवाह जरूर करेंगी, परंतु ठीक ऐसे, जैसे पुरुष ऊँची-से-ऊँची शिक्षा पाकर भी विवाह अवश्य करते हैं। विवाह का आधार प्रेम है, निस्सहाय अवस्था नहीं। आजकल स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र के अत्यंत संकुचित हो जाने के कारण स्त्री के लिये विवाह का आधार उसकी निस्सहाय अवस्था हो गया है, प्रेम नहीं रहा। यही स्त्री की गुलामी का कारण बन रहा है। हिंदू-समाज में लाखों ऐसे घर हैं, जिनमें स्त्रियाँ दिन-रात पिटती हैं, परंतु उन्हें पति की गुलामी करनी ही पड़ती है; लाखों ऐसे घर हैं, जिनमें सती-साध्वी देवियों को शराबी और दुराचारी पति को देवता मानकर पूजना पड़ता है, और वे बेबसी के कारण गुलामी की बेड़ियों को नहीं तोड़ सकतीं। स्त्री-जाति के इस दुर्भाग्य और उसकी इस गुलामी का एकमात्र कारण यह है कि हमने स्त्री को आजीविका की दृष्टि से सर्वथा पुरुष के आश्रय में छोड़ दिया है, उसके सहारे के बिना वह समुद्र की लहरों में बह रहे तिनके के समान हो जाती है। यह कहना कि स्त्री अपनी इच्छा से इस गुलामी को स्वीकार करती है, स्त्री के दृष्टिकोण को न समझना है; और यह कहना कि स्त्री का स्वभाव ही पुरुष की गुलामी करना है—चाहे वह पुरुष कैसा ही क्यों न हो—स्त्री के स्वभाव के साथ अन्याय करना है।

'स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर है, बाहर नहीं है; और घर में उसका स्वभाव पुरुष की गुलामी करना है'—ये विचार हमारे समाज

जड़ पकड़ चुके हैं, और इन्हीं दृष्टियों से हम लोग स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर विचार करते हैं। लोग यहाँ तक कहने लगे हैं कि जहाँ स्त्री का स्वभाव घर में ही बंद रहकर पुरुष की गुलामी करने का है, वहाँ वह घर से बाहर के कार्य के लिये शारीरिक तथा मानसिक दृष्टियों से अयोग्य भी है।

शारीरिक दृष्टि से कहा जाता है कि पुरुष तथा स्त्री के शरीर की बनावट में इतना भारी भेद है कि स्त्री के लिये घर को ही अपने कार्य का क्षेत्र चुनना उचित जान पड़ता है। कुछ अंश तक यह बात ठीक है कि स्त्री तथा पुरुष के शरीर की रचना में भेद है, परंतु यह भेद ऐसा नहीं है, जिससे स्त्री को एक क्षेत्र से सर्वथा निर्वासित ही कर दिया जाय। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कई स्त्रियों ने, जिन्हें मौक़ा मिला, घर के बाहर के कर्तव्यों को बड़ी सफलता-पूर्वक निभाया। महारानी एलेज़ेबेथ तथा महारानी विक्टोरिया ने जिस सफलता से एक बड़े भारी राज्य का संचालन किया, उसमें उनकी पुरुषों से शारीरिक भिन्नता क्यों बाधक नहीं हुई? असल में उच्च राजघरानों में स्त्रियों को उस प्रकार बहिष्कृत करके नहीं रक्खा जाता, जिस प्रकार दूसरे लोग स्त्रियों को एक तुच्छ जीव समझकर समाज से पृथक् रखते हैं। यही कारण है कि ऊँचे घरानों में पुरुषों तथा स्त्रियों की शक्तियों में अधिक भेद नहीं देखा जाता। इसी का परिणाम है कि राजघरानों में महारानी एलेज़ेबेथ तथा विक्टोरिया-जैसी राजनीतिज्ञ स्त्रियाँ भी हो जाती हैं। अगर ये

दोनो रानियाँ किसी साधारण घराने में जन्म लेतीं, तो वे अपनी उन शक्तियों को न दिखला सकतीं, जिन्हें वे रानी होते हुए दिखा सकीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ किसी काम के लिये पुरुषों की शारीरिक शक्ति कम-से-कम हो जाती है, वहाँ से स्त्रियों की अधिक-से-अधिक शक्ति का प्रारंभ होता है। कई काम ऐसे हैं, जिनमें पुरुषों की अपेक्षा कई स्त्रियाँ, अभ्यास के बल पर, आगे निकल जाती हैं। यह कहना कि पुरुषों तथा स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र सर्वथा अलग-अलग है, जिस काम को पुरुष कर सकते हैं, उसे स्त्रियाँ कर ही नहीं सकतीं, उनकी शारीरिक रचना ही इस प्रकार की नहीं होती कि वे उस कार्य को कर सकें, एक निराधार कल्पना है। स्त्रियों को 'अबला' कहा जाता है, परंतु कई स्त्रियाँ पुरुषों को पछाड़ सकती हैं। शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) के आधार पर कई लोग इस युक्ति को यहाँ तक खींच ले जाते हैं कि वे स्त्री तथा पुरुषों के मस्तिष्क की रचना में भी भेद बतलाते हैं। स्त्री का मस्तिष्क छोटा होता है, पुरुष का बड़ा। उनका कथन है कि मस्तिष्क-संबंधी इस शारीरिक भेद के कारण भी स्त्री तथा पुरुष की ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में समानता नहीं है। पुरुष कठिन विषयों का अध्ययन कर सकता है, स्त्री रोचक विषयों में ही दिल लगा सकती है, और उसी के आधार पर उनके कार्य-क्षेत्रों का अलग-अलग होना आवश्यक है। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जेम्स स्टुअर्ट मिल महोदय ने कहा है कि तब तो लंबे-चौड़े स्थूलकाय व्यक्ति

में दुबले-पतले आदमी की अपेक्षा अधिक चमत्कारिक बुद्धि होनी चाहिए, हाथी को बुद्धि में मनुष्य से कहीं आगे बढ़ा होना चाहिए। मिल महोदय का कहना है कि मस्तिष्कों को मापने और तोलनेवाले एक शरीर-शास्त्रज्ञ ने उन्हें बतलाया कि अब तक सबसे अधिक भारी मस्तिष्क उसने एक स्त्री का ही पाया था। कर्वीयर का मस्तिष्क सबसे अधिक भारी समझा गया था। परंतु मिल महोदय के मित्र ने एक स्त्री का मस्तिष्क कर्वीयर के मस्तिष्क से भी अधिक भारी पाया। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क का भारी होना मात्र उसकी अपेक्षाकृत अधिक शक्ति का परिचायक नहीं हो सकता। भार (Quantity) के अतिरिक्त गुण (Quality) भी किसी वस्तु की उत्कृष्टता का पता लगाने में आवश्यक अंग है। अगर सूक्ष्मता, सौंदर्य आदि गुणों की दृष्टि से स्त्री के मस्तिष्क को परखा जाय, तो उसका पुरुष के मस्तिष्क से बहुत ऊँचा स्थान है। कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि स्त्री तथा पुरुष के शरीर एवं मस्तिष्क के रचना-संबंधी भेदों के आधार पर उनके कार्य-क्षेत्र को अलग-अलग कर देना—और स्त्री को चौके-बर्तन की तथा पुरुष को विज्ञान की शिक्षा देना प्रारंभ कर देना—काल्पनिक भेदों पर आश्रित है।

स्त्री को घर में गुलाम बनाए रखने के लिये जिस प्रकार स्त्री तथा पुरुष के शारीरिक भेद पर जोर दिया जाता है, उसी प्रकार दोनो के मानसिक विकास की भिन्नता को भी युक्ति के रूप से पेश किया जाता है। कहा जाता है कि स्त्री

मानसिक विकास में पुरुप से बहुत पीछे है। अब तक स्त्रियों में कोई बड़ी दर्शन-विज्ञ, कोई बड़ी इतिहासज्ञ, कोई बड़ी विज्ञान-प्रवीण नहीं हुई। परंतु स्त्रियों का पुरुपों से मानसिक विकास में पिछड़ा होना कुछ सिद्ध नहीं करता। सिद्ध तो यह करना चाहिए कि प्रयत्न करने पर भी कोई स्त्री किसी पुरुप से मानसिक विकास के क्षेत्र में आगे नहीं निकल सकती। पुरुप के मानसिक विकास में जो कम-से-कम मात्रा पाई जाती है, वह स्त्री के मानसिक विकास की अधिक-से-अधिक मात्रा है। ऐसा सिद्ध होने से ही स्त्री को शिक्षा के उस क्षेत्र से निर्वासित किया जा सकता है, जिस पर अब तक पुरुप का एकाधिपत्य रहा है। मूर्ख-से-मूर्ख पुरुप के लिये जब शिक्षा का प्रत्येक क्षेत्र खुला हुआ है, तब उस क्षेत्र को स्त्री-जाति-मात्र के प्रति बंद कर देने के लिये यह सिद्ध करना आवश्यक है कि किसी स्त्री का मानसिक विकास उस मूर्ख पुरुप से भी ऊँचा नहीं हो सकता, नहीं तो इसका क्या अभिप्राय है कि अयोग्य पुरुपों के लिये एक क्षेत्र खोल दिया जाय, और योग्य स्त्रियों के लिये उस क्षेत्र को बंद कर दिया जाय? असल में मानसिक योग्यता की धारा इस प्रकार नहीं बहती कि पहले पुरुपों में बहे, और जब पुरुपों में वह अपना जोर खत्म कर चुके, तब धीमे तौर से स्त्रियों में बहने लगे। कई पुरुपों से स्त्रियाँ अधिक योग्य होती हैं, और कई स्त्रियों से पुरुप अधिक योग्य होते हैं। अब तक मानसिक योग्यता के

क्षेत्र में ऊँचे-से-ऊँचा स्थान अधिकतर पुरुषों ने ही प्राप्त किया है, इसका कारण स्त्रियों को मौक़ा न मिलना है। योरप में भी, जहाँ स्त्री-शिक्षा इतने ऊँचे दर्जे पर पहुँच गई है, स्त्री-शिक्षा को प्रारंभ हुए कितना समय हुआ है? अठारहवीं शताब्दी तक तो वहाँ भी स्त्रियाँ चौके-चूल्हे में ही लगी थीं। दो शताब्दियों की शिक्षा में अगर स्त्री-जाति ने शिक्षा के क्षेत्र में इतनी उन्नति कर ली है, तो उनकी मानसिक योग्यता में तो कम-से-कम किसी को संदेह नहीं रह जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस समय तक मनुष्य ने इतनी अधिक मानसिक उन्नति कर ली है कि ऐसे समय में कोई नई बात निकाल देना लगभग असंभव-सा हो गया है। महाशय मौरिस का कथन था कि इस युग के सबसे अधिक मौलिक विचारक वे हैं, जो अपने पहले के सब विचारकों को खूब अच्छी तरह समझे हुए हैं, और उन्हीं के विचारों को एक नए ढंग से कह सकते हैं। पहले मानव-जाति के मानसिक विकास की इमारत पर पत्थर रख सकना आसान था—क्योंकि उस समय यह इमारत अभी प्रारंभ ही हुई थी। परंतु उस समय इस इमारत में किसी प्रकार का हिस्सा लेना स्त्री-जाति के लिये मना था। आज यह इमारत इतनी ऊँची हो गई है कि इसमें एक ज़रा-सी भी ईंट लगाने के लिये बहुत ऊँचाई पर चढ़ना पड़ता है। अगर ऐसे समय में स्त्रियाँ पुरुषों से आगे नहीं निकल सकीं, पुरुषों का मुक़ाबिला ही कर रही हैं, तो भी यह उनके लिये गौरव की बात है, और इससे उनमें

पुरुषों की अपेक्षा मानसिक योग्यता की न्यूनता किसी प्रकार नहीं सिद्ध होती।

अगर शारीरिक तथा मानसिक दृष्टियों से पुरुप तथा स्त्री में ऐसा भेद नहीं है कि स्त्री को केवल घर में क़ैद कर दिया जाय, उसे आजीवन पुरुप पर निर्भर रहकर ही जीवन विताने लायक़ बना दिया जाय, उसे ग़ुलामी के सिवा और किसी स्वतंत्र आजीविका के लिये अयोग्य बना दिया जाय, तब प्रश्न होता है कि क्या पुरुप तथा स्त्री को समान ही शिक्षा दी जाय, उन दोनो की शिक्षा में कुछ भेद न रक्खा जाय?

इस समय यह समझा जाता है कि स्त्री पैदा ही विवाह करने के लिये हुई है, यही उसके जीवन का लक्ष्य है, यही उसकी आजीविका का साधन है। इस विचार को आधार बनाकर स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया जाता है। जब विवाह करना ही स्त्री के लिये आजीविका का साधन है, तब कई लोग तो स्त्री-शिक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। कई कहते हैं कि इतनी शिक्षा अवश्य दे देनी चाहिए, जिससे वह गृहस्थी का कार्य भली भाँति चला सके, इससे ज़्यादा शिक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं भी इस बात को स्वीकार करती हूँ कि स्त्री के लिये घर में रहकर उसकी व्यवस्था करना, बाल-बच्चों की देख-रेख करना बड़ा अनुकूल तथा सुखप्रद कार्य है। पुरुप तथा स्त्री के लिये तो यह श्रम-विभाग का कार्य होना चाहिए। पुरुप बाहर से कमाकर लाता है, स्त्री उसका मितव्ययता से

उचित विनियोग करती है। परंतु श्रम-विभाग की दृष्टि से पुरुष तथा स्त्री दोनो बराबर हैं। पुरुष स्त्री का मालिक नहीं, स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं। जिस प्रकार स्त्री पुरुष पर धन लाने के लिये आश्रित है, उसी प्रकार पुरुष स्त्री पर धन के विनियोग के लिये और गृहस्थी सँभालने के लिये आश्रित है। स्त्री के लिये सबसे बड़ा सुख माता बनना है, और पुरुष के लिये पिता बनना। अगर श्रम-विभाग के नियम को मानकर, स्त्री की आजीविका के लिये पुरुष के प्रति गुलामी के भाव को मानकर नहीं, स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर को चुना जाय, तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। परंतु कितने लोग हैं, जो श्रम-विभाग के कारण स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर को समझते हैं? अगर श्रम-विभाग के कारण ही स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर है, गुलामी के कारण नहीं, तो हम स्त्री को विस्तृत शिक्षा के क्षेत्र से क्यों वंचित रखते हैं? आखिर, यह तो जरूरी नहीं कि प्रत्येक स्त्री जरूर ही शादी करे। अगर वह शादी नहीं करना चाहती, और अपनी योग्यता से समाज को लाभ पहुँचा सकती है, तो क्यों न उसके मानसिक विकास के लिये वे सब क्षेत्र खुले हों, जो पुरुषों के लिये खुले हैं? इसके अतिरिक्त हमारा समाज जैसा है, उसे कौन नहीं जानता? अगर कोई पुरुष अपनी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार करता है, तो क्यों वह सब कुछ बर्दाश्त करती हुई समाज की बलि-वेदी पर अपनी आत्मा की आहुति चढ़ा दे? क्यों न वह पहले से ही इतनी शिक्षा पाई हुई हो कि उसे आजीविका

के लिये ऐसे पति की गुलामी ही न करनी पड़े। भारतवर्ष में कितनी विधवाएँ हैं, और कितनों का जीवन नष्ट नहीं हो रहा ! अगर इन्हें शुरू से ही लड़कों की तरह स्वतंत्र आजीविका की शिक्षा दी गई होती, अगर इन्हें पुरुष पर आश्रित होना ही आजीविका का एकमात्र साधन न बताया गया होता, तो इनका जीवन नष्ट होने के बजाय बच जाता, और समाज के किसी काम आता। अगर इन सब बातों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पति इतना जरूर ही कमा लाए, जिससे कुनबे की परवरिश अच्छी तरह हो सके। कितने घराने हैं, जिनमें बच्चे पर्याप्त कमाई के न होने के कारण तबाह हो जाते हैं। अगर स्त्रियों के लिये सब क्षेत्र खुले हों, तो वे आपत्ति के समय अपने पति का हाथ बटा सकती हैं, उसकी सहायता कर सकती हैं। मेरे कथन का यह अभिप्राय हर्गिज़ नहीं कि प्रत्येक स्त्री को आजीविका के किसी-न-किसी क्षेत्र में अवश्य पड़ जाना चाहिए। अगर किसी स्त्री ने जान-बूझकर विवाह के जीवन को चुना है, तो जब तक वह वैवाहिक जीवन व्यतीत करती है, तब तक अपनी निस्सहाय अवस्था से बाधित होकर नहीं, परंतु श्रम-विभाग के नियम के आधार पर वह घर को अपना कार्य-क्षेत्र बनाए। ऐसा नहीं कि उस समय घर से बाहर की दुनिया को कार्य-क्षेत्र बनाने की उसमें योग्यता न हो; योग्यता हो, ठीक इसी तरह जैसे पुरुष में घर का काम-काज करने की योग्यता होती है। हाँ, उस योग्यता के होते हुए भी, श्रम-विभाग के नियम के कारण,

वह घर का ही काम करे। अगर ऐसी अवस्थाएँ आ जायँ, जिनसे उसकी गृहस्थी टूट जाय—और हिंदू-समाज में तो ऐसी अवस्थाएँ हर समय बनी रहती हैं—तो वह ऐसी निस्सहाय नहीं हो जानी चाहिए कि अवस्थाओं का ही शिकार बन जाय। स्त्री की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि उन आपत्तियों के आ टूटने पर, जो हिंदू-स्त्री के सिर पर हर समय मँड़राया करती हैं, उसका बाल भी बाँका न हो सके। इसी प्रकार अगर कोई स्त्री विवाह न करना चाहे, तो उसमें भी स्वतंत्र आजीविका के निर्वाह की सामर्थ्य होनी चाहिए। पुरुष का स्त्री पर किसी प्रकार निर्भर न होना और स्त्री का पुरुष पर हरएक बात के लिये निर्भर होना, स्पृहणीय अवस्था नहीं है। मैं यह नहीं कह रही कि स्त्रियाँ घर को अपना कार्य-क्षेत्र न बनाएँ, मैं केवल इतना कह रही हूँ कि जो स्त्रियाँ घर को छोड़कर अपनी शक्तियों के विकास का कोई दूसरा क्षेत्र बनाना चाहती हैं, उन्हें पूरी आजादी होनी चाहिए। स्त्रियों तथा पुरुषों में भेद है, परंतु ऐसा कोई मौलिक भेद नहीं है, जिससे जिन कामों के लिये पुरुष योग्य हैं, उनके लिये स्त्रियों को अयोग्य समझा जाय, इस प्रकार के विचार का आधार केवल अब तक की स्त्रियों की गुलामी है।

स्त्रियों को अब तक शिक्षा से इसीलिये वंचित रक्खा गया है, क्योंकि पुरुष-समाज स्त्रियों को गुलामी में ही देखने का आदी है। इस गुलामी की अवस्था को पक्की नींव पर क़ायम रखने के लिये स्त्री तथा पुरुष के शारीरिक एवं मानसिक भेदों पर

आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता रहा है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस काम को पुरुष कर सकते हैं, उस काम को स्त्रियाँ भी उसी खूबी के साथ कर सकती हैं। स्त्रियों के लिये उन सब क्षेत्रों के बंद हो जाने का नतीजा यह हुआ है कि स्त्री की परवशता बढ़ गई है, और जिस अनुपात में स्त्री की परवशता बढ़ती गई है, उसी अनुपात में पुरुष की उच्छृंखलता बढ़ती गई है। आज पुरुषों को क्यों हिम्मत हो जाती है कि वे एक स्त्री के रहते भी दूसरी से शादी कर लें, और दूसरी के रहते तीसरी से? क्योंकि वे समझते हैं कि स्त्री पूर्णरूपेण उन पर आश्रित है। वे उसके अधिकारों को जितना कुचलना चाहें, आज़ादी से, बिना प्रतिक्रिया की संभावना के, कुचल सकते हैं। अगर स्त्री को भी पुरुष के बराबर शिक्षा हो, तो वह अपना रास्ता अलग पकड़ सकती है, और क़ानून को अपने हक़ में करवा सकती है; अगर क़ानून उसके विरोध में हो, तो भी बहुत अंश तक अपनी रक्षा कर सकती है। आज अनेक देवियाँ विधवा होकर अपने धर्म को खो बैठती हैं। इसका कारण केवल यही है कि विधवा होने पर हमारे जघन्य समाज में स्त्री की आजीविका का जो केवल एक साधन—विवाह—था, वह भी उनके पास नहीं रहता, कुत्सित रूप से जीवन बिताने के सिवा उसे कोई दूसरा उपाय ही नहीं सूझता। अगर हमारे समाज में जिस प्रकार लड़के का शिक्षित होना आवश्यक है, उसी प्रकार लड़की का भी शिक्षित होना

आवश्यक समझा जाय, तो विधवाओं के नैतिक पतन का एक बड़ा भारी कारण दूर हो जाय। पुरुष का स्त्री के प्रति जितना भी क्रूरता-पूर्ण व्यवहार है, सबका कारण यही है कि पुरुष अपने हृदय में समझ रहा होता है कि अगर वह स्त्री पर से अपनी रक्षा का हाथ उठा लेगा, तो स्त्री कहीं की नहीं रहेगी। पुरुष भी इस बात को जानता है; स्त्री भी इस बात को जानती है। इसी भावना के कारण पुरुष का अत्याचार बढ़ता जाता है; स्त्री की कायरता बढ़ती जाती है। स्त्री को शिक्षा से वंचित रखने के कारण पुरुष तथा स्त्री दोनो का नैतिक पतन हो रहा है। आज वह समय आ गया है, जब स्त्री की निस्सहाय अवस्था तथा पुरुष का अत्याचारी रूप दोनो नग्न रूप में आकर 'स्त्री-शिक्षा' की तरफ़ हमारा ध्यान बरबस आकर्षित कर रहे हैं।

स्त्री-शिक्षा का प्रश्न स्त्रियों को कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा देने-मात्र से हल नहीं होगा। स्त्रियों को शिक्षा मिलनी चाहिए, और ऐसी मिलनी चाहिए, जिससे वे आजीविका के प्रश्न को स्वतंत्र रूप से हल कर सकें। जब तक वे आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिये 'विवाह' को ही जीवन का लक्ष्य समझेंगी, तब तक वे पुरुषों की गुलामी में बँधी रहेंगी, और तब तक उन पर वे सब अत्याचार होते रहेंगे, जिनका वे सदियों से आज तक शिकार बनती आई हैं। इस दृष्टि से स्त्रियों को उस सब शिक्षा का अधिकार होना चाहिए, जो अब तक सिर्फ़

पुरुषों की ही बपौती जायदाद समझी जाती रही है। पुरुष स्वतंत्रता से कमा सकता है, तभी तो वह स्त्री पर अपने मालिक होने की धौंस जमाता है। जब स्त्री भी उसी प्रकार कमा सकेगी, यह जरूरी नहीं कि वह कमाए ही, उसकी मर्जी हो कमाए, उसकी मर्जी हो न कमाए—और जो स्त्रियाँ विवाह करने के बाद अपनी अवस्थाओं से संतुष्ट होंगी, उन्हें कमाने की आवश्यकता ही न पड़ेगी—परंतु जब स्त्री में भी पुरुष की तरह कमाने की योग्यता उत्पन्न हो जायगी, तब स्त्री का बहुत-सा दुःख दूर हो जायगा। कम-से-कम पुरुष की गुलामी के कारण जो उसके दुःख हैं, वे तो अवश्य दूर हो जायँगे, क्योंकि उस समय उसे पुरुष पर आश्रित होकर ही नहीं रहना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि इस समय तो पुरुषों की शिक्षा भी आजीविका के प्रश्न को नहीं हल कर रही, स्त्रियाँ भी अगर इस क्षेत्र में आ जायँगी, तो पुरुष तथा स्त्री दोनो भूखे मरने लगेंगे, परंतु प्रश्न यह नहीं है। अगर स्त्रियों के इस क्षेत्र में आने से पुरुष भूखे मरने लगें, तो क्या पुरुषों को हरा-भरा रखने का यही तरीका है कि स्त्रियों को सदा के लिये पुरुषों की गुलामी में ही रक्खा जाय? हमारी शिक्षा-प्रणाली दूषित है, वह आजीविका के प्रश्न को हल नहीं करती, इसलिये शिक्षा-प्रणाली को बदलना चाहिए। उसे ऐसे उसूलों पर ढालना चाहिए, जिससे आजीविका का प्रश्न हल हो सके। परंतु जिन उसूलों पर भी वह ढले, आजीविका के प्रश्न को हल करने-वाली शिक्षा-प्रणाली पुरुषों तथा स्त्रियों दोनो के लिये समान

रूप से खुली होनी चाहिए। पुरुष ही उससे लाभ उठा सकें, स्त्रियाँ नहीं, ऐसा अन्याय उसमें नहीं होना चाहिए। अगर यह बात ठीक है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा मानसिक शक्ति में कमजोर होती हैं, तब तो पुरुषों को डरने की कोई वजह भी नहीं है। स्त्रियाँ खुद-ब-खुद प्रतियोगिता में पड़कर पुरुषों से पछड़ जायँगी, और फिर मैदान पुरुषों के हाथ में ही आ जायगा। और, अगर यह बात ही गलत है, अगर स्त्रियाँ प्रतियोगिता के क्षेत्र में पड़कर पुरुषों को पीछे छोड़ देंगी, तब तो सदियों से हो रहा अन्याय दूर हो जायगा। क्या यह स्त्री के प्रति अन्याय नहीं है कि वह किसी क्षेत्र में पुरुष से बहुत अधिक योग्यता रखती हो, और उसे उस योग्यता के संपादन में सिर्फ़ स्त्री होने के कारण रोक दिया जाय? इसी प्रकार, क्या यह समाज के प्रति अन्याय नहीं है कि जो व्यक्ति उत्तम चिकित्सक बनकर, उत्तम शिक्षक बनकर, उत्तम कारीगर बनकर समाज की उन्नति कर सकता था, उसे हमने स्त्री होने के कारण अवसर ही नहीं दिया, और समाज को उसकी योग्यता के द्वारा लाभ उठाने से वंचित रक्खा? स्त्री को इस प्रकार शिक्षा से वंचित रखना 'स्त्री' तथा 'समाज' दोनो के प्रति अन्याय करना है।

स्त्री-शिक्षा का असली प्रश्न यही है, जिसका ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया गया है। पुरुष-समाज स्त्री-शिक्षा पर अपनी दृष्टि से विचार करता है, परंतु इस प्रश्न पर गहराई से विचार

करने के लिये स्त्रियों की दृष्टि से ही विचार करने की आवश्यकता है। स्त्रियाँ इसी दृष्टि-कोण से इस विषय पर विचार कर रही हैं, और भारतीय समाज के भाग्य-विधाताओं को इसी दृष्टि-कोण को समझने की आवश्यकता है।

समाज की रचना में स्त्रियों का हाथ

हमारे समाज की रचना ऐसी है, जिसमें स्त्री को कोई स्थान नहीं है। स्त्री मानो समाज में रहती हुई भी समाज से निर्वासित है। हिंदू-समाज में स्त्री को बस इतना ही स्थान है कि उसकी शादी हो जाय, वह बाल-बच्चों की परवरिश कर दे, और इसी में खत्म हो जाय। घर की चहारदीवारी से बाहर स्त्री का कोई काम नहीं, वहाँ स्त्री को कोई स्थान नहीं। स्त्री को इस प्रकार समाज के जीवन-क्षेत्र से बहिष्कृत कर शायद यह समझा जाता है कि इससे समाज के समुचित विकास में कोई क्षति नहीं पहुँचती, समाज का समविकास स्त्री के समाज में कोई हिस्सा न लेते हुए भी हो सकता है।

परंतु यह भूल है। स्त्रियों को भले ही कोई 'अबला' कहता रहे, उन्हें शक्ति-हीन समझता रहे, परंतु वे अबला होती हुई भी समाज के जीवन पर अपनी छाप डालती रहती हैं, और उसकी प्रगति में प्रत्यक्ष रूप से नहीं, तो अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेती रहती हैं। इस समय संसार की जो प्रगति है, उसे देखते हुए जीवन के किसी क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से जुदा नहीं रक्खा जा सकता। जीवन का हरएक पहलू दूसरे से मिला हुआ है, और इतना मिला हुआ है कि यदि उसे दूसरे पहलू से अलग कर

दिया जाय, तो या तो वह स्वयं किसी काम का नहीं रहता या दूसरे को भी अपनी तरह निकम्मा बना डालता है। स्त्रियों को कुटुंब तक में बंद करके, उन्हें अशिक्षित तथा मूर्ख रखकर, हमारा यह समझना कि उनका संपूर्ण समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, समाज-शास्त्र के नियमों को टालने का प्रयत्न करना है। यदि स्त्रियों को संकुचित क्षेत्र में बंद रक्खा जायगा, तो उनकी संकुचित दृष्टि समाज के जीवन के हर पहलू पर नजर आएगी। हमारे समाज के कर्ता-धर्ता समझते हैं कि स्त्रियों को समाज से अलग रखकर वे उन्हें समाज में कोई भाग नहीं लेने देंगे, परंतु यह भूल है, और इस भूल का प्रत्यक्ष प्रमाण देखना हो, तो हिंदू-समाज पर एक सरसरी नजर डाल लेना काफ़ी है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदुओं में स्त्रियों को अबला समझा जाता है, उनका सामाजिक जीवन से कोई सरोकार नहीं होता, उनकी बड़े संकुचित वायुमंडल में परवरिश होती है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि हिंदुओं का समाज स्त्रियों की संकुचित दृष्टि का ही एक प्रतिबिंब है। स्त्रियों को जिस मूर्खता में रक्खा जाता है, जिस अँधेरे में उनका लालन-पालन होता है, जिस अविद्या में उनके विचार पकते हैं, वह सब कुछ हिंदू-समाज में प्रत्यक्ष रूप में आ जाता है। स्त्रियों के विचार ही समाज रूपी दर्पण में सदा प्रतिबिंबित होते रहते हैं।

आज लोग शिकायत करते हैं कि एक सज्जन बड़े पढ़े-लिखे हैं, प्रगतिशील विचारों के हैं, परंतु वही मुसलमानों के पीरों

की क़ब्रों पर जाकर दुआएँ माँगते हैं ! दूसरे सज्जन बड़े भारी समाज-सुधारक हैं, बड़े-बड़े व्याख्यान देते हैं, वही अपनी छोटी-सी दुधमुँही बच्ची का छोटी उम्र में विवाह रच डालते हैं ! एक तीसरे देश के नेता दो घंटे तक गला फाड़कर दहेज की कुप्रथा का विरोध करते हैं, और वही अपने लड़के की शादी पर दहेज के लिये अड़ जाते हैं ! सुधारक संस्थाओं के बड़े-बड़े संचालक जन्म-मूलक जाति-पाँति के बंधनों को तोड़ने के लिये कागज़-के-कागज़ स्याह कर डालते हैं, परंतु वही अपने लड़के के लिये अपनी जाति की कन्या ढूँढ़ने के लिये अख़बारों में नोटिस देते हैं ! आज हम जैसा कहते हैं, वैसा करते नहीं ! यह क्यों ? इसका क्या कारण है ? हमारे पुरुष-समाज के विचारों और आचारों में इतनी विषमता क्यों है ? क्यों वे जैसा संसार के सामने कहते हैं, वैसा करने को तैयार नहीं होते ? इस समस्या पर थोड़े ही लोगों ने विचार किया होगा, परंतु इसका एकमात्र कारण यही है कि अछूतोद्धार पर प्रस्ताव तो पुरुष-समाज में पास होते हैं, और वही लोग जो उसके समर्थन में हाथ उठाते हैं, जब घर पहुँचते हैं, तब अपने घर की देवियों को अपने अनुकूल नहीं पाते। समाज-सुधारक व्याख्यान देते हुए तो बाल-विवाह के विरुद्ध बोल सकता है, उसे बोलने से रोकनेवाला कौन है, परंतु वही जब अपनी दक़ियानूसी विचारोंवाली माता के सम्मुख पहुँचता है, तब उसके आगे सुधारक की एक नहीं चलती। दहेज की कुप्रथा को लताड़ना

आसान है, परंतु जब पत्नी इस बात में पति के विचारों का साथ नहीं देती, तब पति को भी अपने विचार प्रकट करके ही रह जाना पड़ता है। जाति-पाँति की उलझनों को दूर करने के लिये व्याख्यान तो दिए जा सकते हैं, परंतु जब सुधारक अपने घर में मा, बहन, स्त्री सबको अपने विरुद्ध खड़ा हुआ देखता है, तब उसकी भी हिम्मत टूट जाती है! स्त्रियों को समाज से अलग रखने का परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों ने प्रत्यक्ष रूप से नहीं, तो अप्रत्यक्ष रूप से, परोक्ष रूप से, समाज को प्रभावित करना शुरू कर दिया है, और उसी का नतीजा यह हुआ है कि पुरुषों के कहने तथा करने में जमीन-आसमान का अंतर पड़ गया है। पुरुष कहता वह है, जो उसका दिमाग सोचता है, परंतु करता वह है, जो स्त्री कहती है। विकास के मार्ग में स्त्री को अपने साथ न रखने का परिणाम यह हुआ है कि आज पुरुष कहने को बहुत कुछ कहता है, परंतु करने को उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं करता। जो कुछ करता है, वह वही होता है, जो उसे स्त्री करने को कहती है। क्या इससे अच्छा यह न होता कि पुरुष स्त्री को अपने साथ लेकर चलता, और समाज में जो कहा जाता, वही किया भी जाता?

आज हिंदुओं की समाज का विशाल पोत बिना किसी बंदरगाह के आए खड़ा हो गया है। जहाज का लंगर नहीं उठता, और जहाज चलने नहीं पाता। हमारे भारी जहाज का लंगर हमारा 'स्त्री-समाज' है। जिस प्रकार लंगर चलते हुए

जहाज़ को खड़ा कर देता है, उसी प्रकार 'स्त्री-समाज' ने चलते हुए हिंदू-समाज को खड़ा कर दिया है। लंगर इतना भारी हो गया है कि जहाज़ सदियों से एक ही जगह खड़ा है। जो लंगर जहाज़ को दुनिया की सैर कराने का एक-मात्र साधन था, वही आज उसे एक इंच भी हिलने नहीं देता। समाज की तुलना चलती गाड़ी से भी की जा सकती है। भागती हुई गाड़ी के वेग को रोकने के लिये उसमें 'ब्रेक' लगा होता है। उसके लगाते ही गाड़ी खड़ी हो जाती है। 'स्त्री-जाति' को इस समय हिंदू-जाति की चलती गाड़ी का 'ब्रेक' कहा जा सकता है। हमारी जाति आज या कल से नहीं, सदियों से एक ही जगह पर खड़ी है। 'स्त्री-जाति' का ब्रेक इस पर ऐसा ज़बरदस्त लगा है कि आज एंजिन में कितनी ही स्टीम क्यों न भरें, यह टस से मस नहीं होता। हवा से बातें करनेवाली गाड़ी बिना किसी स्टेशन के आए जंगल में रुक गई है। ब्रेक ने पहियों को जकड़कर पकड़ लिया है, और देर तक यही अवस्था रहने के कारण अब पहियों पर भी ज़ंग लग गया है। स्त्री को हमारे समाज में तुच्छ जीव समझा गया है, उसे समाज में कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया, परंतु उसी निर्वासिता अबला ने पुरुष-समाज को पीछे से ऐसा खींच लिया है कि वह एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। आज स्त्रियाँ अपने पर किए गए अत्याचारों का बदला पुरुष-समाज से ले रही हैं, और जहाँ पर भी पुरुष आगे क़दम बढ़ाने में झिझकते पाए जाते हैं, वहाँ उनकी

पीठ के पीछे किसी-न-किसी 'देवी' के हाथ में उनकी नकेल दिखाई देती है। आज हिंदुओं का पुरुष-समाज आगे नहीं बढ़ता। इसका यह कारण नहीं कि उसमें हिम्मत नहीं। हिम्मत है, परंतु उसके एक क़दम आगे बढ़ाते ही दूसरा क़दम पीछे खींचनेवाले सैकड़ों हाथ निकल पड़ते हैं।

जिस दिशा में हम समाज को बढ़ाना चाहते हैं, वह स्वयं सरल तथा निष्कंटक है; जिन सुधारों को हम समाज में लाना चाहते हैं, वे स्वयं आसान हैं, परंतु स्त्री-समाज को बल-पूर्वक अलग रखने के कारण आज निष्कंटक मार्ग कंटकाकीर्ण हो चुके हैं, सरल मार्ग दुर्गम तथा बीहड़ बन चुके हैं। स्त्री-समाज को मनुष्य-समाज से सर्वथा अलहदा करने का नतीजा आज हिंदू-जगत् भुगत रहा है। अगर किसी की आँखें हों, तो वह देख सकता है कि स्त्री-समाज को मानव-समाज से सर्वथा काटकर अलग कर देना कितना असंभव है। जिन सुधारों को हम करना चाहते हैं, वे कितने सरल हैं, कितने आसान हैं। क्या छोटी-छोटी-सी बातें हैं ! विवाह में जाति-पाँति तोड़ने का मामूली-सा प्रश्न है। क्या नौजवानों के लिये यह साधारण-सी बात कर दिखाना भी कोई कठिन काम है? यदि सुधार इसी तरह की बात का नाम है—और इसमें शक नहीं कि है असल में इसी तरह की बातों का नाम सुधार—तो देश के नौजवान जाति के भवन को मलिन करनेवाली इस गंदगी को झाड़ू के एक झपेटे से साफ़ कर सकते हैं। हाथ

मारकर मकड़ी के जाले के समान थोथी कुरीतियों का नामो-निशान मिटा सकते हैं, एक फूँक में इस धूल को उड़ा सकते हैं! जाति-पाँति तोड़ना भी भला कोई मुश्किल काम है! नव-युवक का तो सीधा जवाब है—जाति में विवाह न किया, जाति अपने आप टूट गई। परंतु नहीं; यह प्रश्न जो मकड़ी के जाले को मिटा देने के समान तुच्छ है, आज जटिल बना हुआ है। कोई छिपी हुई शक्ति मकड़ी के जाले के एक-एक तंतु को फ़ौलादी तारों में बदलती जा रही है, या नवयुवकों के आत्मिक बल का इतना शोषण कर रही है कि उनमें मकड़ी के जाले को भी छिन्न-भिन्न कर देने की शक्ति नहीं रहती। इस शक्ति-हीनता का क्या कारण है ? कारण है केवल एक, और वह यह कि जाति तोड़ने का नाम लेते ही घर में कोहराम मच जाता है। होनहार युवक की माता समझती है कि बेटा कुल को कलंक लगाने लगा है। 'हाय! यह बूढ़ी पड़ोसिनों में बैठकर उनके वाक्य रूपी तीरों को कैसे सहन करेगी!' 'लोग क्या कहेंगे!' ये 'लोग' क्या चीज़ हैं? 'लोग' का मतलब है मूर्खता की मूर्तिमती अड़ोसिन-पड़ोसिन वृद्धाएँ! चाहो, तो चार बरस के लड़के-लड़की को ब्याह दो, बूढ़े के गले में नन्हीं बालिका को लटका दो, यह सब धर्म के दायरे में गिना जाता है, बस, जाति-पाँति के घेरे के बाहर पाँव न रक्खो। नवयुवक के हृदय में उबलते हुए उत्साह पर उसकी माता के आँसुओं का छींटा पड़कर उसे एकदम ठंडा

कर देता है। सुधार का जहाज हिलने लगता है, परंतु लंगर उसे फिर वहीं-का-वहीं खड़ा कर लेता है। गाड़ी के पहिए गति करने लगते हैं, परंतु अपनी जगह पर ही चक्कर मार-मारकर रह जाते हैं।

कौन नहीं जानता कि ब्याह-शादियों पर आवश्यकता से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए! जो व्यक्ति पसीना बहाकर रुपया कमाता है, वह रुपए को पानी की तरह बहाने की मूर्खता नहीं कर सकता, उसे मालूम है कि फिर वैसी ही चक्की-पिसाई होती है। हाँ, स्त्रियों को इस बात का किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं होता। उन्हें एक ही बात मालूम है। उनकी वही में लिख रक्खा है कि किसने अपनी लड़की की शादी पर कितना खर्च किया। बस, अब अपनी लड़की की शादी में किसी से कम नहीं रहना! यही एकमात्र जीवन का ध्येय है! लड़की की शादी के समय चार-पाँच हजार का खर्च करना जरूरी है, फिर उसे दो हजार रुपए खर्च करके कौन पढ़ाए! या उसे पढ़ा ही लें या उसकी शादी ही कर लें। दोनो बोझ कौन उठा सकता है। हमारी माननीय वृद्धाओं की इसी फ़िलासफ़ी का नतीजा है कि आज जो लड़कियाँ पढ़-लिखकर देश के बोझ को हल्का करने में हाथ बटा रही होतीं, वे आज स्वयं भार बनकर देश को डुबो रही हैं। बहुत लड़कियों के पिता ऋण के बोझ से कमर तोड़ लेते हैं; क्या इस नरक-यातना को वे स्वयं मोल ले लेते हैं? नहीं, यह हो ही नहीं सकता! इसका कारण

उनके पाँव की बेड़ियाँ और हाथों की हथकड़ियाँ—उनके घर की स्त्रियाँ—हैं! उन्हें अपने पति की कमाई से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो अपनी पड़ोसिनों से 'कंपिटीशन' करना है। उनका मुक़ाबिला करना है। नाक बहुत बड़ी ली है, उसी की हिफ़ाज़त की फ़िक्र करना है! अफ़सोस! स्त्रियाँ अपनी नाक रखने के लिये अपनी संतानों की नाक कटवाने में कोई हर्ज नहीं समझतीं। कोई कुएँ में कूद पड़ने का डर दिखलाकर, कोई ज़हर खाकर प्राण छोड़ने की धमकी देकर, कोई दिन-रात आँसुओं की झड़ी लगाकर पुरुष-जाति से ऐसे-ऐसे अनर्थ करवा रही हैं, जिनसे समाज-वृक्ष की जड़ों को घुन खाता चला जा रहा है। कम-से-कम हिंदू-समाज तो इन्हीं कारणों से संसार की सभ्य जातियों के सम्मुख मुख दिखलाने के लायक़ भी नहीं रहा।

इसी प्रकार के और न-जाने कितने सुधार हैं, जो स्त्रियों के पुरुष-जाति का साथ न देने के कारण रुके पड़े हैं। सब कुप्रथाओं का पिता 'बिरादरी' को कहा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि किसी समय बिरादरियाँ ही हिंदू-समाज को उन्नति की तरफ़ ले जानेवाली संस्थाएँ थीं, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वर्तमान अवस्था में जब तक बिरादरियों को तोड़-फोड़ नहीं दिया जाता, तब तक हमारा समाज उन्नति की तरफ़ एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। आज सुधार इसलिये नहीं चलते, क्योंकि बिरादरियाँ उन्हें चलने ही नहीं

देतीं। जिसकी नसें बहुत अधिक फड़कतीं हों, उसे बिरादरियाँ एकदम दूध से मक्खी की तरह उठाकर अलग फेंक देती हैं। पहले जहाँ समाज को गंदगी से अलग रखने का साधन बिरादरी बनी हुई थी, वहाँ आज जब कि छिद्र पाकर एक बार गंदगी अंदर आ घुसी है, उसे अंदर से बाहर न निकलने की ठेकेदार भी बिरादरी ही बनी हुई है।

परंतु यह बिरादरियों का भूत हम पर सवार क्यों है? इसका हिंदू-समाज में अव्याहत शासन चलता कैसे है? उत्तर है—स्त्रियों के कारण! क्या आज बीसवीं सदी में भी कोई नवयुवक बिरादरी की परवा करता है? बिरादरीवाले ज़्यादा-से-ज़्यादा क्या करेंगे? हुक्का ही तो नहीं पीने देंगे! ख़ैर, हुक्का न सही—नहीं पिएँगे। जो बिरादरी की तरफ़ पीठ फेरेंगे, क्या वे हुक्के के बग़ैर न जी सकेंगे? परंतु फिर भी बिरादरी के शासन के सम्मुख नवयुवक की पीठ टूट जाती है; इसका यह कारण नहीं कि वह बिरादरी से डरता है, परंतु इसका कारण उसकी आँखों के सम्मुख रोती-कलपती उसकी माता, उसकी बहन या उसकी स्त्री है। स्त्रियों के दिमागों में आज़ादी दिखाई नहीं देती, वे एक बार 'बिरादरी' को अपना सर्वस्व आराध्य देव मान चुकी हैं, अब बिरादरी के बग़ैर वे पानी के बिना मीन की तरह व्याकुल हो जाती हैं। आज बिरादरियाँ पुरुषों के ऊपर, स्त्रियों के द्वारा, शासन कर रही हैं। पुरुष बिरादरियों से नहीं डरते, स्त्रियों से डरते हैं, और

क्योंकि स्त्रियाँ बिरादरियों से डरती हैं, इसलिये पुरुषों को भी बिरादरियों से डरना पड़ता है। इसीलिये तो कहना पड़ता है कि स्त्रियों के कारण ही हमारे सब सुधार रुके पड़े हैं।

हमने स्त्रियों को समाज में कोई स्थान नहीं दिया, उन्हें समाज से निर्वासित कर दिया, परंतु आज शायद पुरुष-समाज को अनुभव हो रहा है कि स्त्रियों को इस प्रकार समाज से निकाला नहीं जा सकता। आज स्त्रियाँ पुरुषों से कौड़ी-कौड़ी का हिसाब चुका रही हैं। प्रकृति का अटल नियम काम कर रहा है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अब स्त्रियाँ पुरुषों को एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ने देंगी। यदि पुरुष आगे बढ़ेंगे, तो स्त्रियाँ कुएँ में कूद पड़ेंगी, ज़हर खा लेंगी, जान पर खेल जायँगी, परंतु जब तक दम में दम है, पुरुषों को अपनी दुर्दशा दिखलाती हुई उन्हें अकेले अपनी उन्नति नहीं करने देंगी। स्त्री-जाति, जिसे संकुचित वायुमंडल में रक्खा गया है, समाज के जीवन पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती। पुरुष जिस वायुमंडल में रहते हैं, वह खुला वायुमंडल है, उसमें परिवर्तन होता रहता है, उसमें पुराने विचारों के स्थान पर नए विचार आते-जाते रहते हैं। इसके विपरीत पुरुषों ने स्त्रियों को सदियों से एक ही प्रकार के घुटे हुए वायु-मंडल में क़ैद कर रक्खा है; परंतु स्त्री क़ैद में रहती हुई भी, पर्दे में पड़ी हुई भी, समाज में न रहती हुई भी समाज पर अपनी पूरी-पूरी छाप डाल रही है। पुरुष कितना ही आगे बढ़ना

चाहें, स्त्रियों के लिये भले ही कितनी बार 'अबला'-शब्द का प्रयोग करें, परंतु स्त्रियाँ इतनी 'सबला' हैं कि उनके विचारों की छाप हर हालत में समाज पर पड़ती रहेगी। समाज वही होगा, जो स्त्री होगी; वह नहीं होगा, जो पुरुष होगा। स्त्री को समाज से धकेलकर अगर पुरुष आगे बढ़ना चाहेगा, तो अपनी ही बनाई हुई बेड़ियों से इस प्रकार जकड़ जायगा कि आगे क़दम ही नहीं रख सकेगा। इसलिये यह समझना कि स्त्रियों को कुटुंब तक में क़ैद रखकर, उन्हें सार्वजनिक जीवन से वंचित रखकर समाज का भला हो सकता है, एक घातक विचार है।

इस समय भी जब कि हम समझ रहे हैं कि स्त्रियाँ समाज की रचना से सर्वथा अलग हैं, स्त्रियों का छिपा हुआ हाथ समाज के प्रत्येक कार्य में दिखलाई दे रहा है। यद्यपि स्त्रियाँ हमारे समाज की रचना में प्रत्यक्ष रूप से कोई हिस्सा नहीं ले रहीं, तो भी समाज का कोई कार्य ऐसा नहीं, जिसमें उनकी छाप न हो, उनका प्रतिबिंब न हो। स्त्रियों का काम प्रत्येक कार्य में उत्तेजना देना, उसके लिये उत्साह उत्पन्न करना, उसमें जान डाल देना है। अगर वह अच्छा कार्य है; तो वह तेजी से और खूबसूरती से होने लगता है; अगर बुरा कार्य है, तो वह भी तेजी से और ज़ोर से होता है। अभी दर्शाया जा चुका है कि किस प्रकार स्त्रियों के संकुचित विचारों के कारण ही हमारा समाज विकास की तरफ़ नहीं बढ़ रहा, संकुचित हो रहा है, रूढ़ियों का

शिकार वन रहा है। स्त्रियों के ऊँचे आदर्शों के कारण समाज उन्नति करने लगता है; उनके नीचे आदर्शों के कारण वह गिरने लगता है। संसार के निकृष्ट कामों के पीछे जहाँ किसी-न-किसी स्त्री का हाथ था, वहाँ संसार के उत्कृष्ट कामों के पीछे भी किसी-न-किसी देवी का हाथ था। श्रीरामचंद्र जिस समय जंगल में निवास कर रहे थे, उस समय कौन आशा कर सकता था कि वह रावण-जैसे महाबली तथा पराक्रमी राक्षस के साथ युद्ध की तैयारी करने लगेंगे, परंतु महारानी सीता का अपहरण किया जाना एक महासंग्राम का कारण बन गया, और तपस्वी राम धनुष-बाण लेकर असुरों का संहार करने के लिये रणांगन में जा कूदे। महाभारत का युद्ध शायद कभी महासंग्राम के नाम से विख्यात न होता, यदि उसमें द्रौपदी ने अपमानित होकर भीम तथा अर्जुन को धिक्कारा न होता। अभिमन्यु नया विवाह करके आया था, उसके दिन सुख-चैन से जीवन व्यतीत करने के थे। वह कभी जान को हथेली पर रखकर जंग में न जूझा होता, अगर उसकी नवविवाहिता पत्नी उत्तरा ने उसके कटि-प्रदेश में शस्त्र न बाँधे होते, और युद्ध जाते समय उसकी पीठ न ठोकी होती। राठौर राजा यशवंतसिंह को हारकर आता देखकर अगर उसकी रानी ने दुर्ग के फाटक बंद न कर दिए होते, तो राणा दुबारा शत्रुओं पर टूटकर अपने कुल तथा वंश की लाज न बचा सकता। छत्रपति शिवाजी को भी उनकी माता का प्रोत्साहन समय-

समय पर हताश होने से बचाता रहता था। संसार के इतिहास के पन्नों को पलट जाइए, उसमें ऐसे दृष्टांत जगह-जगह भरे पड़े हैं, जिनमें स्त्रियों ने कभी माता के रूप से, कभी बहन के रूप से, कभी पत्नी के रूप से पुरुषों के मुर्दा दिलों में जान फूँकी है, और उनमें कार्य-शक्ति का संचार कर उन्हें मैदान में आगे क़दम बढ़ाने के योग्य बनाया है।

योरप की वर्तमान सामाजिक उन्नति का भी मुख्य कारण वहाँ की स्त्रियों का उन्नतिशील होना है। इस समय योरप में स्त्रियाँ सुशिक्षिता हैं, वे अपने अधिकारों को समझती हैं, उन्हें चहारदीवारी में बंद करके नहीं रक्खा जाता, इसीलिये योरप का सामाजिक जीवन एक खुला विस्तृत तथा उदार जीवन है। उस जीवन में अन्य चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, परंतु उसे भारतीय जीवन की तरह संकुचित, रूढ़ियों से घिरा हुआ तथा तंग दायरों में बंद नहीं कहा जा सकता। वहाँ की स्त्रियाँ पढ़-लिखकर जीवन के प्रश्नों पर स्वयं विचार करती हैं, और उन्हीं के प्रकाश में अपने प्रश्नों को हल करती हैं। इधर भारत की स्त्रियों में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति ही नहीं उत्पन्न होती। हो भी कैसे, जब उन्हें स्वतंत्र वायुमंडल में विचरने ही नहीं दिया जाता? स्त्रियों के दिमाग़ जितने भारतवर्ष में ग़ुलामी में कसे हुए हैं, उतने दूसरी जगह नहीं। इसी ग़ुलामी का नतीजा है कि हमारे समाज में चारो तरफ़ ग़ुलामी के विचार नज़र आते हैं। उन्नति की तरफ़ ले जानेवाला कोई भी क़दम क्यों

न हो, उसे पीछे घसीटने के लिये हजारों हाथ हर समय तैयार रहते हैं। यदि स्त्रियों को सुशिक्षित बनाया जाय, उनकी खुले वातावरण में परवरिश हो, तो यह कभी हो नहीं सकता कि समाज के विस्तृत जीवन पर उनका प्रतिबिंब न पड़े। हमारी व्यवस्थापिका सभा ने बाल-विवाह-निषेधक बिल पास किया था। इस सुधार का अनेक स्थानों पर विरोध हुआ। परंतु यदि स्त्रियाँ संकल्प कर लेतीं कि वे इस सुधार के विरोधियों को चुप करा देंगी, तो कभी हो नहीं सकता था कि ऐसे अच्छे सुधार का कोई भी विरोध कर सकता। स्त्रियाँ जिस काम को हाथ में लेंगी, उसमें सफलता होना अवश्यंभावी है, परंतु जिस देश की स्त्रियाँ मूर्खता के गढ़े में पटक दी जायँ, वहाँ स्त्रियों से किस प्रकार की आशा की जा सकती है? योरप की स्त्रियाँ इतनी जाग्रत् हो गई हैं कि वे अपना भला-बुरा स्वयं सोच-समझ सकती हैं। वहाँ के सार्वजनिक जीवन में वे प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा ले रही हैं, और जहाँ अपनी जाति पर वे किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने देतीं, वहाँ उनकी जागृति का परिणाम पुरुष-समाज पर भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यह एक सत्य सिद्धांत समझना चाहिए कि जिस औसत में किसी देश की स्त्रियाँ सुशिक्षिता तथा अपने अधिकारों को समझनेवाली होंगी, उसी औसत में उस देश के पुरुष उन्नतिशील तथा हिम्मतवाले होंगे। जिस औसत में किसी देश की स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी तथा उच्च विचारों

की होंगी, उसी औसत में उस देश के पुरुष-समाज के कहने तथा करने में कम अंतर होगा। आज योरप में जो कहा जाता है, वही किया भी जाता है, क्योंकि वहाँ स्त्रियों को उतना ही सुशिक्षित तथा मनुष्यता के दायरे में समझा जाता है, जितना पुरुषों को। स्त्रियाँ ही तो पुरुषों में कर्मण्यता का संचार करती हैं। योरप की स्त्रियाँ सुशिक्षिता हैं, इसलिये वे अपने देश के पुरुष-समाज में कर्मण्यता का संचार कर रही हैं। भारत में स्त्रियाँ पुरुषों में कर्मण्यता का संचार क्या करेंगी, जब उन्हें अपने अधिकारों का ही ज्ञान नहीं, जब उनमें उतनी शिक्षा ही नहीं, जिससे कर्मण्यता का संचार किया जा सकता है। योरप नैतिक दृष्टि से भले ही कितना गिरा हुआ हो, वहाँ आचार की मर्यादा चाहे कितनी ही शिथिल हो, उन्होंने इस बात को समझा है कि समाज की रचना में स्त्री-जाति को छोड़ा नहीं जा सकता, और इस दृष्टि से भारत को योरप से बहुत कुछ सीखना है।

भारत का स्त्री-समाज अशिक्षित है, वह पुरुष-समाज में कर्मण्यता का संचार कैसे करे? जो कुछ यहाँ का स्त्री-जगत् जानता है, वही पुरुष-समाज से करा रहा है। स्त्री-जगत् मूर्खता के गढ़े में पड़ा हुआ है, इसलिये वह हिंदू-समाज के बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों को भी उसी गढ़े में घसीट रहा है। हमारा समाज लाख कोशिश करने पर भी करवट नहीं ले रहा, अफ़ीम खाए पड़ा है—इस दुरवस्था को दूर करने का एक-मात्र उपाय है स्त्री-समाज का चैतन्य हो जाना।

देश की जो दुरवस्था है, उसका चित्र खींचने की जरूरत नहीं। सामाजिक, राजनीतिक तथा मानसिक गुलामी की बेड़ियाँ चारो तरफ़ से हमें जकड़े हुए हैं। कहीं अछूतों को मंदिरों में प्रवेश न करने देने का अड़ंगा है, तो कहीं विधवाओं का रोना है। कहीं देश की स्वतंत्रता का प्रश्न है, तो कहीं बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों का अपने प्राचीन गौरव को भूलकर पश्चिमी सुर में सुर मिलाने का उपहासास्पद दृश्य है। भारतमाता की इस दीन-हीन अवस्था को सुधारने के लिये अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, परंतु किसी में सफलता प्राप्त नहीं होती। कारण यही है कि शक्ति का स्रोत स्त्री-जाति है, कर्मण्यता की धारा को वही प्रवाहित कर सकती है। प्राचीन इतिहास में स्त्री-जाति ने अप्रत्यक्ष रूप से समाज के चक्र को चलाया है, इस समय भी उसी का हाथ, हमारे बिना देखे, समाज-चक्र को चला रहा है। जब तक स्त्री-जाति जाग्रत् न होगी, जब तक वह चैतन्य न होगी, जब तक उसके अधिकारों की पुकार बहरे कानों में पड़ती रहेगी, तब तक हमारा समाज इसी प्रकार असफलता के थपेड़े खाता रहेगा।

भारत की अवनति में स्त्रियाँ जहाँ तक कारण बन रही हैं, हम उसे भली भाँति समझ नहीं रहे हैं। हमारे व्यवहार से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हम समाज में स्त्रियों की सत्ता से भी अनभिज्ञ हैं। परंतु अपने को धोखा देने से क्या फ़ायदा? भारतवर्ष के प्रश्न अधिकतर स्त्रियों के कारण विकट रूप धारण

किए हुए हैं, और उन प्रश्नों को हल करने के लिये शक्ति-भर स्त्रियों में 'एजिटेशन' करना ज़रूरी है। इस महान् कार्य को करने के लिये जीवन अर्पण कर देनेवाली अपनी तपस्विनी पुत्रियों की प्रतीक्षा में भारतमाता अपने फटते दिल पर हाथ रखकर चारो तरफ़ देख रही है। माता के जर्जरित कलेवर की दशा देखकर जिन देवियों का हृदय संताप से भर आता है, वे जगदंबा के चरणों का ध्यान कर यह प्रण करके उठ खड़ी हों कि दरवाज़े खटखटाते हुए अपनी बहनों को जगाने में ही वे अपना सुहाग समझेंगी। परमात्मा करे कि ऐसी देवियों से भारतमाता की कोख भर जाय। जिस दिन यह स्वप्न स्वप्न नहीं रहेगा, क्रिया में परिणत हो जायगा, उस दिन भारतमाता का कल्याण होगा। भारत की देवियों के जागते ही इस देश के जहाज़ का लंगर उठेगा, और यह विशाल पोत सदियों तक एक ही जगह खड़ा रहने के अनंतर फिर से अपने लक्ष्य की तरफ़ बढ़ने लगेगा।

पुरुष बनाम स्त्री

डॉक्टर गौड़ ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में एक बिल पेश किया था, जिसके अनुसार हिंदू-स्त्रियाँ भी, किन्हीं खास अवस्थाओं में, तलाक़ की अधिकारिणी थीं। यह सुनकर कई लोग झुँझला उठे थे। वे कहते थे, ग़ज़ब हो जायगा, स्त्रियाँ पतियों को छोड़ने लगेंगी, तो गंगा समुद्र से हिमालय को बहने लगेगी, सूर्य पश्चिम से उदय होने लगेगा, मेरु पृथिवी में धँस जायगा, अनर्थ हो जायगा! उनसे पूछो, इतनी आफ़त काहे को आ पड़ेगी, तो वे कहते हैं, स्त्रियाँ पतियों को छोड़ दें, भला यह भी कभी हो सकता है? यह किस शास्त्र में लिखा है? जिस दिन ऐसा होने लगेगा, उस दिन भारत की स्त्री-जाति के उच्च आदर्श धूलि में मिल जायँगे, पातिव्रत-धर्म शर्म के मारे मुँह छिपा लेगा, हिंदू-समाज का गौरव मटियामेट हो जायगा! परंतु क्या मैं स्त्री-जाति की प्रतिनिधि होकर गंगा और हिमालय की दुहाई देनेवालों से पूछ सकती हूँ कि आज तक—जब से मनुष्य-समाज को वेद दिया गया था, तब से अब तक—कभी ऐसा दिन भी आया है, जिस दिन पुरुष-जाति के उच्च सिद्धांत ख़तरे में पड़े हों, जिस दिन पुरुषों के घृणित तथा भयंकर कुकृत्यों से हिंदू-धर्म की पुरानी नैया डगमगाई हो? पुरुषों ने क्या-क्या नहीं

किया, और किस बात में कसर रक्खी? इसी हिंदू-समाज में ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जिनकी दो-दो स्त्रियाँ हैं, परंतु यह कहता कोई दिखाई नहीं देता कि हिंदू-धर्म का कोई ऊँचा सिद्धांत ख़तरे में है; इसी नैया में ऐसे लोग बैठे हैं, जिन्होंने एक पाँव क़ब्र में रखकर दूसरे पाँव से विवाह-मंडप की यज्ञ-वेदी की प्रदक्षिणा की है, परंतु अब तक यह भँवरों को चीरती हुई बड़े वेग से चली जा रही है, बाल-भर भी डाँवाडोल नहीं होती! साठ वर्ष के कोढ़ी के हाथ सोलह वर्ष की युवती बेच दी जाती है; और हिंदू-धर्म अपूर्व गौरव से मस्तक ऊँचा कर तिलक लगाता है! जिस धर्म पर अब तक कलंक का टीका नहीं लगा, उस पर अब कैसे लग जायगा; जो नैया बड़े-बड़े तूफ़ानों में नहीं डगमगाई, वह छोटी-छोटी लहरों से कैसे डोल जायगी? परंतु नहीं, पुरुष-जाति के आदर्श ख़तरे में पड़ते हैं, तो पड़ते रहें, उन्हें चिंता है स्त्री-जाति के आदर्शों को ख़तरे से बचाने की; पत्नी-व्रत-धर्म चूल्हे-भाड़ में जाय तो जाय, उन्हें फ़िक्र है पातिव्रत-धर्म की! कोई इन भलेमानसों से पूछे—तुम्हें अपनी भी फ़िक्र है? तुम्हें यह भी पता है कि तुम्हारी करतूतों से हिंदू-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कितनी कालिख पुत रही तथा पुत चुकी है? स्त्रियों के उच्च आदर्शों को स्त्रियाँ समझती हैं, और समझ लेंगी; क्या पुरुष भी अपने को मापने के लिये कुछ आदर्श बनाएँगे?

भारतवर्ष में १६ वर्ष से छोटी आयु की सात-आठ लाख

विधवाएँ हैं। इनमें से अधिकांश का विवाह तब हो गया था, जब वे विवाह को वैसा ही खेल समझती थीं, जैसा गुड्डे-गुड़ियों का। बहुतों को तो बड़े होकर बतलाया गया कि वे विधवा हो गई हैं, और इसी से उन्होंने अनुमान किया कि उनका विवाह हुआ होगा! यदि कोई कह दे, इन विधवाओं का विवाह हो जाना चाहिए, तब भी कई धर्म-प्रेमियों को आसमान फटता नज़र आता है। वे समझते हैं, बस, अब पृथ्वी रसातल को चली! इतना घोर कलिकाल—विधवाएँ ब्याह करने लगें! भारतीय स्त्रियों के तप से ही तो अब तक प्राचीन सभ्यता क़ायम थी, जो देवियाँ पतियों के साथ चिता की लपटों में कूद पड़ीं, उन्हीं के सतीत्व से ही तो स्त्री-जाति का गौरव बना हुआ था, क्या उस आदर्श का अब गला घोट दिया जायगा, और विधवाओं का विवाह होने लगेगा? परंतु क्या मैं उन विधवाओं के मूक-चीत्कारों की प्रतिध्वनि को दोहराती हुई पूछ सकती हूँ कि आज तक कितने पतियों ने पत्नी के मर जाने पर आंतरिक वियोग को अनुभव करते हुए उसकी चिता को अपनाया है? चिता को अपनाना दूर रहा, मैं पूछती हूँ, आज तक कितने पतियों ने पत्नी-वियोग के बाद दूसरा विवाह करना पाप समझा है? यहाँ तो शास्त्र ही उल्टे बना रक्खे हैं। पति के मर जाने पर स्त्री का आजन्म उसकी स्मृति की आराधना करना धर्म है—पति को उसने देखा हो या न हो, उसकी काल्पनिक स्मृति ही

पत्नी के लिये पर्याप्त हैं, परंतु पत्नी के मर जाने पर उसे जल्दी-से-जल्दी स्मृति-पट से मिटा देना पति का धर्म है। जिस मृतपत्नीक पुरुष की श्मशान से लौटते-लौटते रास्ते में ही एकदम सगाई नहीं हो जाती, वह पुरुष ही क्या? मैं पूछती हूँ, जो आदर्श, इन करतूतों के होते हुए भी, अब तक हिंदू-धर्म के नभोमंडल में तारा-समूह के समान ज्योति का पुंज बरसा रहे हैं, वे एक बाल-विधवा के, जिसका गर्भावस्था में ही वाग्दान हो गया था, जिसके पति का उसके पैदा होने से पूर्व ही स्वर्गवास हो गया था, विवाह कर लेने से कैसे लुप्त हो जायँगे? पुरुष की एक के बाद दूसरी स्त्री मरती जाय, और वह नए-नए सिरे से सेहरा बाँधता जाय; स्त्री का पाँच वर्ष की अवस्था में ही पति क्यों न मर जाय, वह विवाह का भाव भी हृदय में न आने दे—यही स्त्री का धर्म है! यह धर्म गया नहीं और हिंदू-धर्म की योजनों लंबी नाक कटी नहीं! पुरुषों को यही फ़िक्र सदा रही है कि कहीं विधवाएँ इस उच्च आदर्श से न डिग जायँ! धन्य हैं पुरुष, जिन्हें अपनी तबाही की कोई फ़िक्र नहीं, परंतु जिन्हें आदर्शों को सुरक्षित बनाए रखने की चिंता हर घड़ी व्याकुल किए रहती है।

स्त्रियों के लिये एक और ऊँचा आदर्श है, और वह है 'पति-सेवा' का। स्त्री का सबसे बड़ा धर्म पति की पूजा करना है, वही उसका आराध्य देवता है, परमेश्वर है। स्त्री को इस जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मांतरों में भी उसी पति की सेवा

करनी चाहिए। पति चाहे कुछ कह दे, पत्नी का धर्म उसके चरणों में शीश नवाकर उसकी आज्ञा का पालन करना है। पति अपने चरणों पर पड़े पत्नी के सिर को भले ही पैरों से ठुकरा दे, पर पत्नी का धर्म है कि ज़बान से आवाज़ न निकलने दे। पति अपनी पत्नी के बाल पकड़कर घसीट सकता है, उसकी छाती पर चढ़कर उसका ख़ून पी सकता है, उसके गले पर छुरी चला सकता है, राजनियम ऐसे व्यक्ति को भले ही राक्षस कहकर फाँसी पर लटका दे, परंतु स्त्री का धर्म ऐसे नर-पिशाच को भी देवता समझकर ही पूजना है। हिंदू-धर्म की लाज इसी तरह रक्खी जा सकती है। नित्यप्रति की घटनाओं को पुरुष-समाज सुनता है, और सुनकर भारत की स्त्री-जाति के उच्च आदर्शों के सम्मुख सिर झुकाता है! आज अमुक पुरुष ने क्रोध में आकर अपनी स्त्री को मारते-मारते अधमरा कर दिया, परंतु धन्य है उसकी स्त्री, उसने आँखें खोलते ही पति के चरणों पर माथा रख दिया! कल फलाने ने धक्के देकर अपनी स्त्री को घर से बाहर निकाल दिया, परंतु शाबाश है उसकी स्त्री को, उसने चूँ तक नहीं किया। परसों एक ने घर के दरवाज़े पर खड़े होकर अपनी स्त्री को ज्यों गालियाँ बकनी शुरू कीं, बेलगाम बकता ही चला गया, लेकिन वाह रे 'देवी' उसने कानों में रुई डालकर सब कुछ सुन लिया! ये कहानियाँ रोज़ सुनाई जाती हैं, और स्त्री-जाति को अपने आदर्शों के पीछे मर मिटने के लिये सराहा जाता है। परंतु क्या मैं उन मारी

गई, लताड़ी गई, आदर्शों पर मारी जा रही और मिटाई जा रही अबलाओं की तरफ़ से पूछ सकती हूँ कि यदि शराब पीकर, जुआ खेलकर, पत्नी के ज़ेवर बेचकर और फिर पत्नी को ठुकराकर हिंदू-धर्म की नौका नहीं डूबी, तो ऐसे पतियों को यदि पत्नियाँ ठुकरा दें, तो यह नौका क्योंकर डूब जायगी? यदि अपनी बेक़सूर पत्नी को खुले बाज़ार गालियाँ देने से हिंदू-धर्म की लाज ख़तरे में नहीं पड़ती, तो ऐसे पति की ज़बान खींच लेने से वह लाज किस प्रकार ख़तरे में पड़ सकती है? परंतु नहीं, वे कहते हैं, दोनो का धर्म ही भिन्न-भिन्न है। पति चाहे कैसा ही हो, उसकी सेवा करना, उसके लिये प्राण तक वार देना पत्नी का धर्म है—आख़िर इस ऊँचे आदर्श को स्त्रियाँ नहीं पालेंगी, तो और कौन पालेगा। परंतु कोई इन आदर्शवादियों से पूछे—तुम्हारे भी कुछ आदर्श हैं, या स्त्री को पति-सेवा का उपदेश देते रहना ही तुम्हारा एकमात्र आदर्श रह गया है?

मेरा यह अभिप्राय कभी नहीं कि स्त्रियों को तलाक़ का अधिकार मिल जाना चाहिए, मेरा यह अभिप्राय भी नहीं कि विधवाओं की शादी हो ही जानी चाहिए, न मेरा यही अभिप्राय है कि स्त्रियों को पति-सेवा छोड़कर पति के साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार करना चाहिए। तलाक़ का प्रस्ताव स्वीकृत हो भी जाय, तो भी मेरी बहनें इतनी गौ हैं कि उन्हें जिस खूँटे के साथ बाँध दिया जायगा, उसके रस्से से उनका गला भले ही घुट

जाय, वे उस खूँटे से अलग न होंगी; विधवाओं के विवाह के लिये कितने ही लेख लिखे जायँ, कितने ही लेक्चर झाड़े जायँ, जिस क्षण उन्हें मालूम हो गया, वे विधवा हैं, चाहे वे दस वर्ष की बच्ची ही क्यों न हों, उसी क्षण वे सुहाग के चिह्न उतारकर संपूर्ण जीवन के लिये कठोर तपस्या का व्रत लेकर बैठ जायँगी; उनका पति कितना ही क्रूर क्यों न हो—चोर हो, जार हो, कोढ़ी हो, अपाहिज हो—वे प्रातः-सायं उसकी आरती उतारेंगी, उसे आराध्य देव ही कहेंगी, उसे अपना ईश्वर समझकर ही उसकी पूजा करेंगी। भारत की स्त्रियाँ इन्हीं विचारों में पाली गई हैं, ये विचार उनकी आदत के हिस्से हो गए हैं, वे इन विचारों को छोड़ नहीं सकतीं। परंतु क्या इन आदर्शों के पालने का ठेका सदा स्त्रियों के जिम्मे ही रहेगा ? मैं मान लेती हूँ, तलाक़ का विचार एक अत्यंत क्षुद्र तथा नीच विचार है; स्त्री-पुरुष का संबंध जन्म-जन्मांतरों का संबंध होना चाहिए; तलाक़ इस उच्च आदर्श का उपहास है। परंतु मैं यह मानने के लिये तैयार नहीं कि इस उच्च आदर्श को निभाना केवल स्त्री का काम है। यह उच्च आदर्श है, तो स्त्री तथा पुरुष दोनो के लिये है, केवल स्त्री के लिये नहीं। पुरुषों ने इस आदर्श को निर्दयता-पूर्वक पैरों तले कुचला है; स्त्री ने—कम-से-कम भारत की सती नारी ने—इस आदर्श को स्वप्न में भी कुचलने का साहस नहीं किया। मैं यह भी मानने के लिये तैयार नहीं कि पुरुषों द्वारा तो इस उच्च आदर्श का तिरस्कार किए जाने पर हिंदू-धर्म की नौका अब तक

नहीं डगमगाई, यदि स्त्रियाँ इस आदर्श को छोड़ बैठेंगी, तो वह नौका मँझधार में जा डूबेगी। मैं समझती हूँ कि यदि इस आदर्श को कुचलने से धर्म की नौका डूबती है, तो वह पुरुषों की मेहरबानी से कभी की डूब चुकी है; अब स्त्रियों के पास तो डुबाने के लिये कोई नौका ही नहीं है! मैं मान सकती हूँ, विधवाओं को—कम-से-कम जिनकी बड़ी उम्र में शादी हुई हो—पुनर्विवाह के लिये प्रेरित करना कोई अच्छा काम नहीं है। वे अपने पति की स्मृति को भुला नहीं सकतीं! उन्हें विवाह के लिये कहना स्त्री-हृदय की गहराई को न पा सकना है। परंतु मेरी समझ में यह नहीं आता कि जिन बहनों को 'विवाह'-शब्द के अर्थ का ही नहीं पता था, जिनके माता-पिता ने अपनी नासमझी से उन्हें विधवा बनाया, उनके विवाह कर लेने में हिंदू-धर्म की नाक क्यों कट जाती है? यदि एक बार विवाह हो जाने पर—चाहे वह समझ-बूझकर हुआ हो, चाहे बेसमझे-बूझे—फिर किसी एक के मर जाने पर विवाह करना अनुचित है, तो वह स्त्री तथा पुरुष दोनो के लिये अनुचित है, किसी एक के लिये ही नहीं। जिस धर्मशास्त्र में लिखा हो कि पुरुष विधुर होता जाय, और नए-नए विवाह रचाता जाय, परंतु स्त्री विधवा होते ही सिर मुँडा ले, माला हाथ में ले ले, वह धर्मशास्त्र इकतरफ़ा है, अन्याय-पूर्ण है! मैं यह नहीं समझ सकती कि जो धर्म-नौका लाखों पुरुषों के दस-दस बार विवाह कर लेने पर भी शास्त्र-

समुद्र पर वत्तख की तरह तैरती चली जाती है, वह किसी विरली, एक-आध स्त्री के विधवा हो जाने पर दो वार शादी कर लेने से कैसे रसातल में जा डूबती है! अब रही पति-सेवा। मैं मानती हूँ, पति स्त्री का देवता होता है, पति में स्त्री के प्राण वसते हैं। परंतु पति-सेवा के लिये स्त्रियों को उपदेश देने की तो कोई जरूरत नहीं। भारत की स्त्रियाँ तो दिन-रात यह मनाती ही रहती हैं कि उन्हें पति के चरणों की सेवा से कभी वंचित न किया जाय, वे अपने पति को लिखती हैं—'आपके चरणों की दासी' इसी तन, मन अर्पण करनेवाली दासी को हिंदू-घरों में जिस प्रकार ठुकराया जाता है, उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह दासी अपनी सेवा का कुछ प्रतिकार नहीं चाहती, वह जितनी ठुकराई जाती है, उतनी हीपति के चरणों की धूलि लेकर माथे पर चढ़ाती है, निष्काम भाव से पति की सेवा में प्राण त्याग देना उसके जीवन की सवसे वड़ी कामना होती है। परंतु क्या इतनी अवलाओं का पतियों से ठुकराए जाकर उनके चरणों में पड़े-पड़े विलख-विलखकर आँखें मूँद लेना हिंदू-धर्म की नौका को कुछ भी विचलित नहीं करता? पति की सेवा करना वड़ा ऊँचा आदर्श है, इस आदर्श के देवता पर लाखों अवलाओं ने अपने को वलि-रूप से चढ़ा दिया है, परंतु मेरे हृदय में प्रश्न उठता है, क्या ये वलियाँ पत्थर के देवता की आराधना में ही तो नहीं चढ़ाई जा

रहीं? क्या देवता असल में देवता है, या निरा हाड़-मांस का पुतला?

दो शब्दों में मेरी शिकायत केवल यह है—जीवन-यात्रा में चलते हुए कई आदर्श हमारे सामने आते हैं। पुरुष-समाज इन आदर्शों से अब तक बचने की कोशिश करता रहा है। शायद कइयों को यह कहना अधिक संयत प्रतीत होगा कि कम-से-कम इस समय पुरुष-समाज इन आदर्शों से अपनी जान बचा रहा है। इन आदर्शों को मढ़ा गया है स्त्री-जाति के सिर! बड़े-बड़े धुरंधर पंडित दोनो हाथ उठाकर चिल्ला रहे हैं, स्त्रियों का धर्म है, पति की जीवन-पर्यंत सेवा करें; स्त्रियों का धर्म है, पति के मर जाने पर भी उसकी स्मृति की पूजा करें! मैं सोचती हूँ, कहीं 'धर्म' की इस दुहाई के पीछे पुरुष-जाति की अपनी कमजोरी तो नहीं छिपी हुई है? यदि स्त्री-जाति के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर यह निश्चय करें कि पुरुषों के बहुविवाह करने से हिंदू-धर्म की नैया डावाँडोल हो रही है; उनके पत्नी के मर जाने पर फिर से शादी कर लेने से हिंदू-धर्म की नाक कट चुकी है, और बची-खुची भी कटनेवाली है; पति अपनी सेवा-परायणा स्त्री को भी पैर से ठुकराता है, इससे धर्म 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहा है—यदि सब स्त्रियाँ मिलकर यह पास कर दें, तो पुरुषों के पास क्या उत्तर है?

पुरुषों ने स्त्रियों के लिये उच्च आदर्श बना दिए हैं। वे उच्च

हैं, इसमें संदेह नहीं, परंतु साथ ही वे इकतरफ़ा हैं। स्त्रियों की तरफ़ से माँग उठ रही है—इन आदर्शों का पालन पुरुषों को भी करना होगा! यदि पुरुष इन आदर्शों को पालने से चूकेंगे, जैसा कि वे चूक रहे हैं, तो वही होगा, जो आज हमारी आँखों के सम्मुख हो रहा है।

भविष्य

हमने देख लिया, स्त्री का जीवन उसके गुलाम होने का एक जीता-जागता नमूना है। कोई समय था, जब उसकी समाज में स्थिति ऊँची थी, वह पुरुष के समान समाज की एक आवश्यक अंग थी। परंतु वह समय केवल भारतवर्ष में था। स्त्री के लिये वही स्वर्णीय युग था। उसकी झलक प्राचीन साहित्य में ही रह गई है। उसके बाद से वह संसार के किसी कोने में स्वतंत्र नहीं दिखाई देती। योरप में १८वीं शताब्दी के अंत तक स्त्री परतंत्र थी, गुलाम थी। यह बात ठीक है कि १७वीं शताब्दी में फ़ेनेलौन तथा मैडेम डी मेंटेनौन ने फ़्रांस में स्त्री-शिक्षा-संबंधी कुछ कार्य प्रारंभ किया था, परंतु उनका आदर्श भी स्त्री को मानसिक क्षेत्र में आज़ादी देने का नहीं था। उन्होंने स्त्री को संसार के प्रति सर्वथा उदासीन हो जाने का पाठ पढ़ाया। उनके लिये जो पाठशालाएँ खोलीं, उनमें वे संसार में रहती हुई भी संसार से अलग थीं। दो लड़कियाँ आपस में बात नहीं कर सकती थीं। उनके आगे-पीछे अध्यापिकाएँ चलती थीं, जो इस बात पर ध्यान रखती थीं कि कहीं बालिकाएँ चलते-फिरते किसी समय आपस में बात न कर लें। इस चुप्पी में, कानाफूसी

में, वे लड़कियाँ सालों बिता देती थीं। इस प्रकार की शिक्षा तो स्त्री के लिये दासता से भी बुरी थी। योरप में स्त्री उस दासता से निकलकर अब स्वतंत्र हो गई है। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का अधिकार लगभग माना जा चुका है। परंतु भारतवर्ष में स्त्री गुलामी से निकलने की इस लड़ाई में अभी बहुत पीछे है। उसके साथ अभी गुलामों का-सा ही बर्ताव हो रहा है। पुरुष के लिये जो क्षेत्र खुले हैं, स्त्री के लिये वे सब बंद हैं। स्त्री से जो आशाएँ की जाती हैं, स्त्री के सामने जो आदर्श रक्खे जाते हैं, पुरुष से न तो वे आशाएँ ही की जाती हैं, और न उन आदर्शों का सौवाँ हिस्सा भी उसके जीवन में पाया जाता है। जेवर, पर्दा, सब स्त्री के शरीर पर उसकी गुलामी की निशानियाँ हैं। स्त्री को शिक्षा से अभी तक वंचित ही रक्खा जा रहा है। गरीब घरानों में स्त्रियों की स्थिति जानवरों से बढ़कर नहीं है, अमीर घरानों में वे घर में एक अलंकार बनकर रहती हैं—इससे ऊँची स्थिति अभी तक हमने स्त्रियों को नहीं दी। स्त्री तथा पुरुष में भेद है, इससे कोई इनकार नहीं करता, परंतु भेद होना और बात है, और ऊँच-नीच का भाव होना और बात है। स्त्री तथा पुरुष में भेद होते हुए भी समाज की दृष्टि में दोनो बराबर हो सकते हैं। अब तक हमारे समाज की रचना स्त्री तथा पुरुष के भेद पर आश्रित नहीं रही; हमारे समाज का निर्माण तो इस बात पर हुआ

है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अत्यंत निचले दर्जे की है, स्त्री तथा पुरुष की मानसिक योग्यता के क्षेत्र में बराबरी हो ही नहीं सकती, पुरुष स्वभाव से ऊँचा और स्त्री स्वभाव से नीची है। अब तक हमारे समाज ने स्त्री को अपनी क्रीत-दासी ही समझा है। विवाह, ज़ेवर, पर्दा, शिक्षा, वर्तावा, स्थिति, इन सबमें स्त्री के जीवन पर ग़ुलामी की एक अमिट छाप दिखाई देती है। ये शुभ लक्षण हैं कि स्त्री-समाज अब इस भावना के विरुद्ध भड़क रहा है। मैं तो समझती हूँ कि उसे अभी और अधिक भड़काने की ज़रूरत है। इस समय तक हमारे समाज में स्त्रियों की जो स्थिति है, उसे देखकर चुपचाप, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना संभव नहीं जान पड़ता। इस स्थिति में परिवर्तन होना आवश्यक है, और वह भी मौलिक परिवर्तन, साधारण परिवर्तन से काम नहीं चलेगा। आज पढ़ी-लिखी स्त्रियों के हृदय में परिवर्तन की जो प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो गई है, उसका एकमात्र कारण यही है कि वे सदियों की इस ग़ुलामी को अब देर तक नहीं देख सकतीं। इसी परिवर्तन की तरफ़ उदीयमान स्त्री-समाज बड़े उत्सुकता-पूर्ण नेत्रों से टकटकी लगाए देख रहा है।

आज स्त्री-समाज की विचित्र अवस्था है। कल्पना कीजिए कि एक स्त्री घोड़े पर चढ़कर सैर करने को निकल जाती है। उसे यह नया काम करते देखकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हृदय

में भिन्न-भिन्न भाव उठने लगते हैं। पुरुष-समाज, जो स्त्री को अब तक मकान में बंद रखने का आदी है, उसकी तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगता है। अनेक पुरुष इस बात को सोच भी नहीं सकते कि स्त्री भी घोड़े की सवारी कर सकती है। उनके लिये यह बात एक अनहोनी घटना है। पुराना स्त्री-समाज भी इन्हीं विचारों में पला है, इसलिये हमारी वृद्धा माताएँ भी किसी युवती को घोड़े पर सवारी करते हुए देखकर आश्चर्य करने लगती हैं। उनकी सम्मति में तो आजकल की लड़कियाँ कुल को कलंक लगा रही हैं, बेशर्म होती चली जा रही हैं। परंतु अगर सवारी करनेवाली बहन से कहा जाय कि तुम्हारे विषय में तुम्हारे बुज़ुर्गों की यह राय है, तो क्या वह यह नहीं पूछ सकती कि उसे घोड़े की सवारी करने का अधिकार क्यों नहीं है? क्यों इस काम के लिये उसे निर्लज्ज कहा जाता है? अगर लड़का घोड़े की सवारी कर सकता है, तो लड़की क्यों नहीं कर सकती? अगर लड़की के लिये यह काम बेशर्मी का है, तो लड़के के लिये क्यों नहीं? कौन कह सकता है कि ये प्रश्न ठीक नहीं हैं? परंतु क्या हम इन प्रश्नों का कोई उचित उत्तर दे सकते हैं? और, अगर हम इनका उचित उत्तर नहीं दे सकते, तो क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि स्त्रियाँ इस आज़ादी के ज़माने में, यों ही ताले में बंद होकर बैठी रहेंगी? इसी का नतीजा है कि वर्तमान समाज में नवीन विचारों में पली हुई लड़कियाँ न तो इस बात पर आश्चर्य करती हैं कि उनकी एक बहन

घोड़े की सवारी कैसे कर सकती है, और न उनके हृदय में उस बहन के विषय में निर्लज्ज होने का भाव उत्पन्न होता है। उनके हृदय में तो केवल यही भाव उत्पन्न होता है कि जैसे यह घोड़े पर चढ़ रही है, वैसे हम भी चढ़ें, हमें भी ऐसा मौक़ा मिले। इन विचारों में कोई अस्वाभाविकता नहीं है। आख़िर स्त्रियाँ भी तो मनुष्य हैं। उन्हें अब तक ज़बर्दस्ती एक संकुचित क्षेत्र में रक्खा गया है, इसीलिये तो उनके विचार संकुचित हो गए दिखलाई पड़ते हैं। इस संकुचित क्षेत्र से वे निकल जायँ, तो वे क्यों न उसी प्रकार सोचने लगें, जिस प्रकार अब तक पुरुष-समाज सोचता रहा है। अगर किसी लड़के को लड़कियों के-से वायु-मंडल में बंद करके रक्खा जाय, तो वह भी तो परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। वह वैसा ही शर्मीला, वैसा ही परा-श्रित हो जाता है। पुराने और नए ज़माने में यह भेद है कि इस समय स्त्रियाँ उस तंग दायरे को छोड़ रही हैं, जिसमें वे अब तक पड़ी रही हैं। पहले स्त्रियाँ परतंत्रता में सारी आयु बिता सकती थीं, अब वे स्वतंत्रता की पवन के एक झोंके को पाकर भी पंख कटे पक्षी की तरह फड़फड़ाने लगती हैं। अवस्थाओं के बदल जाने से स्त्री की प्रकृति भी बदलती जा रही है। ये विचार शिक्षा के साथ ही फैल रहे हों, ऐसी बात नहीं है। अशिक्षिता बहनों में भी ये विचार घर करते चले जा रहे हैं। भेद इतना ही है कि शिक्षित बहनें अपने विचारों को क्रिया में परिणत करने को भी तैयार हो जाती हैं, अशिक्षिता

बहनें परिस्थितियों को अपने विरुद्ध देखकर शर्मा जाती हैं, साहस नहीं कर सकतीं। अपने बंधनों को तोड़ डालने की उत्कट अभिलाषा प्रत्येक नवयुवती के हृदय में उत्पन्न हो गई है, चाहे वह शिक्षिता हो, चाहे अशिक्षिता, चाहे अवस्थाएँ उसके अनुकूल हों, चाहें प्रतिकूल!

जो बात घोड़े की सवारी के संबंध में है, वही जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी है। जिन कामों को केवल पुरुष किया करते थे, उन्हें अब स्त्रियों ने भी करना शुरू कर दिया है। पुरुष-समाज, जो अब तक स्त्रियों को इन कामों के अयोग्य समझता था, स्त्री में इन परिवर्तनों को देखकर अब दाँतों-तले उँगली दबा रहा है; हमारा पुराना स्त्री-समाज, जो अब तक पुरुष-समाज द्वारा पढ़ाए हुए गुलामी के विचारों को अपना स्वभाव-सा समझने लगा था, इन परिवर्तनों को देखकर घबराने लगा है; परंतु वर्तमान नव-युवकों तथा नवयुवतियों का समाज इन परिवर्तनों को स्त्री-जाति के अच्छे दिन फिर आने का शुभ लक्षण समझ रहा है, और पुरुष-समाज द्वारा स्त्री-जाति पर किए गए आज तक के सामूहिक अत्याचारों को याद करके रोष कर रहा है। आजकल के विचारों में पली हुई किसी भी स्त्री की समझ में नहीं आ सकता कि स्त्रियों को प्रत्येक काम में वह आजादी क्यों न हो, जो पुरुषों को है; स्त्री की समाज में वही स्थिति क्यों न हो, जो पुरुषों की है? क्यों पुरुषों को मालिक समझा जाय, क्यों स्त्रियों को गुलाम समझा जाय? क्या यह बात ठीक नहीं कि जब तक स्त्री

की गुलामी के भाव समाज में प्रबल थे, तभी तक स्त्री अयोग्य और असमर्थ थी, पुरुष के मुक़ाबिले में नहीं आ सकती थी, पुरुषों से शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में बहुत नीची थी। आज ज्यों-ज्यों वे भाव नष्ट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों स्त्रियों की अयोग्यता और असमर्थता भी दूर होती जा रही है। वे पुरुषों के मुक़ाबिले में आकर कई बातों में पुरुषों को भी पछाड़ती चली जा रही हैं। अगर प्रकृति ने ही पुरुष तथा स्त्री में कोई ऐसा भेद रख दिया होता, जिससे समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष से नीची ही रहनी होती, तो आज योरप में स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के मुक़ाबिले में आकर जो कुछ कर रही हैं, वह सब न कर सकतीं। इस बात को पुरुष तथा स्त्री दोनो समझने लगे हैं, और इसके समझने के साथ-साथ स्त्री की स्थिति और उसका भविष्य बिल्कुल नया रूप धारण करते चले जा रहे हैं।

जिसने स्त्री की भूत की स्थिति का गहराई से अध्ययन किया है, वह यह कहे बिना रह नहीं सकता कि अब तक स्त्री के साथ जो अत्याचार का बर्ताव होता रहा है, भविष्यत् उसी की प्रतिक्रिया का परिणाम होगा। वह प्रतिक्रिया योरप में प्रचंड रूप धारण कर चुकी है, और भारत में भी स्त्रियों की जागृति के रूप में प्रकट हो रही है। अब तक स्त्री को अयोग्य कहकर, पुरुष से नीची कहकर दबाया गया है; अब स्त्री अपने को योग्य बनाकर, पुरुष के मुक़ाबिले की बनकर, पुरुष से कई क्षेत्रों में आगे बढ़कर दिखाएगी। अब स्त्री पुरुष के साथ प्रतियोगिता

के हर क्षेत्र में आएगी। पुरुष जो कुछ करता रहा है, और जिस काम में भी वह अपनी ईश्वर-प्रदत्त स्वाभाविक योग्यता की दुहाई देकर स्त्री को अपने से नीची कहता रहा है, उसमें स्त्री अब सिद्ध करेगी कि वह पुरुष से नीची नहीं थी, पुरुष की गुलामी में बँधे होने के कारण वह अब तक अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकी थी। स्त्री अब यह सिद्ध करेगी कि अगर उसे भी पुरुष के समान ही अवसर दिया जाय, तो वह भी प्रत्येक क्षेत्र में उसी प्रकार अपनी योग्यता का परिचय दे सकती है, जिस प्रकार अब तक पुरुष देता रहा है। पुरुष वकालत करते रहे हैं, स्त्रियाँ भी वकील बनकर दिखाएँगी, और वकालत भी पुरुषों से अच्छी करके दिखाएँगी। पुरुष चिकित्सा करते रहे हैं, स्त्रियाँ भी चिकित्सिकाएँ बनकर दिखाएँगी, और पुरुषों की अपेक्षा अच्छी चिकित्सा करेंगी। स्त्रियाँ पुरुषों के मुक़ाबिले में सब कुछ करेंगी, और प्रत्येक काम पुरुषों से बढ़कर दिखाएँगी। स्त्रियों को अयोग्य तथा असमर्थ कहकर सदियों से जो दासता में रखने का प्रयत्न किया गया है, उसका वे अब मुँह-तोड़ उत्तर देंगी। योरप तथा भारत में स्त्री-जाति का भविष्य प्रतिक्रिया की इसी भावना के साथ बँधा हुआ है। इस प्रतिक्रिया को रोका नहीं जा सकता। अब तक स्त्री-जाति के साथ जो इकतरफ़ा बर्ताव हुआ है, उसके प्रतिकार के लिये यह आवश्यक हो गया है कि स्त्री-समाज को अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करके दिखा देने का अवसर दिया जाय। इस

अवसर के लिये वे अब किसी का मुँह नहीं ताकेंगी। इस अवसर को उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है, और इसी से उनके भविष्य का निर्माण हो रहा है।

इस प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि समाज में पुरुष तथा स्त्री की स्थिति एक समान हो जायगी। पुरुष को उच्च तथा स्त्री को नीच समझने का विचार नष्ट हो जायगा। अब तक जिस प्रकार समाज के क्षेत्र से स्त्री को निर्वासित किया गया था, वह अवस्था नहीं रहेगी। स्त्री-जाति अब तक गुलामी के बोझ से दबती चली आई है। अब वह इस बोझ को अपने कंधों पर से उतार फेकेगी। अब तक उसे पुरुष से नीचा गिना जाता रहा है, अब वह पुरुष के साथ बराबर होने के अपने अधिकार को मनवाकर रहेगी। अब तक समाज से अर्धचंद्र देकर उसे निकाला जाता रहा है, अब वह समाज के क्षेत्र में पुरुष के बराबर अपना स्थान बनाकर रहेगी। अब तक पुरुष जो कुछ करता रहा है, स्त्री को उस सबसे बल-पूर्वक रोका गया है, अब वह पुरुष के मुक़ाबिले में सब कुछ करेगी। स्त्री-जाति का निकट भविष्य यही है। वह अपने भूत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया करेगी, एक प्रबल प्रतिक्रिया करेगी। इस प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक तथा आवश्यक है। अगर यह प्रतिक्रिया न होगी, तो स्त्री तथा पुरुष दोनो के हृदय के भीतर स्त्री के विषय में पुराने विचार कुछ-न-कुछ अपना असर बनाए ही रक्खेंगे। स्त्रियाँ तब तक अपने

को असमर्थ समझती रहेंगी, जब तक वे पुरुषों द्वारा किए जाने-वाले सब काम करके अपनी योग्यता को परख न लेंगी। इसी प्रकार पुरुष भी जब तक स्त्रियों को उन सब कामों को करते हुए न देख लेंगे, जिन्हें अब तक पुरुष ही कर सकते थे, तब तक उनमें स्त्रियों की सामर्थ्य के विषय में संदेह बना ही रहेगा। इस प्रतिक्रिया के द्वारा स्त्री के विषय में उसके 'तुच्छ जीव' होने का जो हमारा विचार है, उसका परिशोध हो जायगा। स्त्री ने सदियों की गुलामी में जो कुछ खोया है, उसे वह इस प्रतिक्रिया के द्वारा ही फिर से प्राप्त करेगी। संभव है, इस प्रकार अपनी स्थिति को पाने में वह बहुत कुछ खो भी बैठे, परंतु थोड़ा-बहुत खोकर भी वह जो कुछ पा जायगी, वह स्त्री को अपनी उचित स्थिति में लाने में बहुत सहायक सिद्ध होगा। अधिक निकट-भविष्य का समय तो इस प्रतिक्रिया का ही उग्र रूप होगा, इस समय स्त्री का सबसे बड़ा ध्येय अपने खोए हुए मैदान को जीतना होगा, गुलामी से निकलकर अपनी योग्यता का परिचय देना होगा, स्त्री तथा पुरुष की समानता को सिद्ध करने में अपनी नस-नस को लड़ा देना होगा।

इस प्रतिक्रिया के अनंतर स्त्री के 'तुच्छ तथा घृणित जीव' होने के विचार के लुप्त हो जाने पर प्रतिक्रिया की गर्मी में स्वभावतः पर्याप्त कमी आ जायगी। तब हम इस स्थिति में होंगे, जब यह निर्णय किया जा सकेगा कि स्त्री को पुरुष के

तथा पुरुष को स्त्री के मुक़ाबिले में किस क्षेत्र में आना चाहिए, और किसमें नहीं। उस समय समाज में स्त्री को पुरुष के बराबर स्थिति मिल चुकी होगी, और तब वह, किसी अयोग्यता के कारण नहीं, परंतु श्रम-विभाग के नियमों के अनुसार, पुरुष के साथ किसी प्रकार का समझौता कर सकेगी। स्त्री तथा पुरुष का कार्य-क्षेत्र अगर अलग-अलग है, तो उनके सामाजिक दृष्टि से एक समान होते हुए भी ऐसा हो सकता है। उनके कार्य-क्षेत्र को भिन्न-भिन्न सीमाओं में बाँधने के लिये यह तो आवश्यक नहीं कि समाज से स्त्री की स्थिति को ही सर्वथा उड़ा दिया जाय। इस समय स्त्री के सामने सबसे पहला काम तो अपनी स्थिति को बनाना हो गया है। जब वह स्थिति बन जायगी, तब समानता के मंच पर आकर वह पुरुष के साथ अपने काम को बाँट सकेगी। उस समय स्त्री तथा पुरुष के क्षेत्रों का निर्णय इन दोनो की समानता को मानकर किया जायगा, इन दोनो में मालिक तथा गुलाम का संबंध कल्पित करके नहीं। बराबरवालों में भी तो श्रम-विभाग के कारण कार्य-क्षेत्र का विभाग हो सकता है। परंतु इस प्रकार श्रम-विभाग के आधार पर अपने क्षेत्र को सीमाबद्ध करती हुई भी स्त्री अपने को किसी प्रकार की असमर्थता की अवस्था में रखने के लिये तैयार नहीं होगी। अगर स्त्री श्रम-विभाग के कारण घर को अपना कार्य-क्षेत्र चुनेगी, तो भी घर के बाहर के क्षेत्र में कार्य करने के लिये अपने को स्वतंत्र रक्खेगी।

अगर वह कभी अपने को ऐसी अवस्थाओं में पाएगी, जिनमें घर से बाहर रहकर कार्य करना ही उसके लिये हितकर होगा, तो वह अपनी सामर्थ्य का उपयोग करेगी, और अगर इसी बात की जरूरत हुई, तो घर छोड़कर पुरुष के मुक़ाबिले में भी कार्य करेगी। अब आगे से स्त्री अपने को ऐसी स्थिति में डालने के लिये कभी तैयार न होगी, जिसमें, किसी हालत में भी, वह बिल्कुल पराश्रित हो जाय, बिल्कुल गुलाम हो जाय। स्त्री-जाति का प्रश्न पूर्ण रूप से तभी हल होगा।

जब भारत की स्त्रियाँ उतना जाग जायँगी, जितना पाश्चात्य देशों की उनकी बहनें जाग चुकी हैं, जब वे अपने मानवीय अधिकारों को फिर से प्राप्त कर लेंगी, जब वे गुलामी की बेड़ियों से मुक्त हो जायँगी, और जब वे 'प्रतिक्रिया' की प्रक्रिया से गुजरकर स्वस्थ अवस्था में आ जायँगी, तब शायद फिर वे उन्हीं आदर्शों की तरफ़ झुकेंगी, जो आदिकाल से स्वयं भगवान् ने स्त्री-जाति के हृदय में धरोहर के रूप में रक्खे थे। स्त्री 'शक्ति' की प्रतिनिधि है, वह महान् है, दिव्य है, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना अच्छा है; जीवन-संग्राम में परास्त हो जाना बुरा है। परंतु आर्थिक स्वतंत्रता ही पा लेना स्त्री के जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकता। योरप की बहनें आर्थिक स्वतंत्रता को पाने में अपने जीवन की बाज़ी लगा रही हैं। उनका दृष्टिकोण आमूल-चूल आर्थिक होता चला जा रहा है। वे किसी चीज़ को बिना

आर्थिक दृष्टि के देख ही नहीं सकतीं। परंतु इस आदर्श में सुख नहीं, शांति नहीं। जीवन का ऊँचा आदर्श जीवन का ध्येय पाने में नहीं, खोने में है, लेने में नहीं, देने में है, भोगने में नहीं, त्यागने में है। पुरुष के लिये भी, स्त्री के लिये भी इसी आदर्श में सुख है, जीवन है। शायद पुरुष की अपेक्षा स्त्री इस आदर्श के अधिक निकट है। आज स्त्री की 'शक्ति' सदियों से गुलामी में पड़े रहने के कारण पुरुष को उठाने के बजाय गिरा रही है, आगे ले जाने के बजाय पीछे धकेल रही है; परंतु जब यह 'शक्ति' जाग जायगी, और पूर्ण रूप से जाग जायगी, तब फिर से वह मानव-जाति के विशाल पोत के लिये भवसागर में ध्रुव तारे का काम देने लगेगी, उसके मार्ग की ज्योति और उसके जीवन का सहारा बन जायगी। स्त्री को अपनी वास्तविक स्थिति तो तभी प्राप्त होगी, परंतु उससे पहले, जिस प्रकार सतोगुण में पहुँचने के लिये रजोगुण से गुज़रना पड़ता है, स्त्री-जाति को भी भारत के प्राचीन सात्त्विक आदर्श तक पहुँचने क लिये पश्चिम के राजसिक जीवन से गुज़रना ही पड़ेगा। यह बुराई है, परंतु आवश्यक बुराई है। इस बुराई में से ही स्त्री-जाति की भलाई निकलेगी। तमोगुण रजोगुण से गुज़रकर ही सतोगुण तक पहुँचता है। स्त्री-जाति को अब तक तमोगुण की स्थिति में रक्खा गया है। तमोगुण में से वह रजोगुण की तरफ़ आ रही है। जब तक स्त्री-जाति के विषय में पुराना गुलामी का एक भी विचार मौजूद रहेगा, तब तक

उसकी स्थिति तामसिक ही रहेगी। परंतु ये विचार बड़ी तेजी से नष्ट हो रहे हैं। स्त्री की स्थिति तामसिक अवस्था से राजसिक अवस्था में आ रही है। स्त्री में कर्मशीलता बढ़ती जा रही है, अभी रजोगुण की यह मात्रा बढ़ेगी, इतनी बढ़ेगी कि तमोगुण का एक अंश भी देखने को नहीं रहेगा। उसके बाद रजोगुण से स्त्री के सतोगुण का आविर्भाव होगा—स्त्री, 'शक्ति' के रूप में, 'माता' के रूप में प्रकट होगी। स्त्री का वह दिव्य रूप उसका वास्तविक रूप होगा, और वही उसकी स्पृहणीय स्थिति होगी।